Registered No. A-731

अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

जै नी

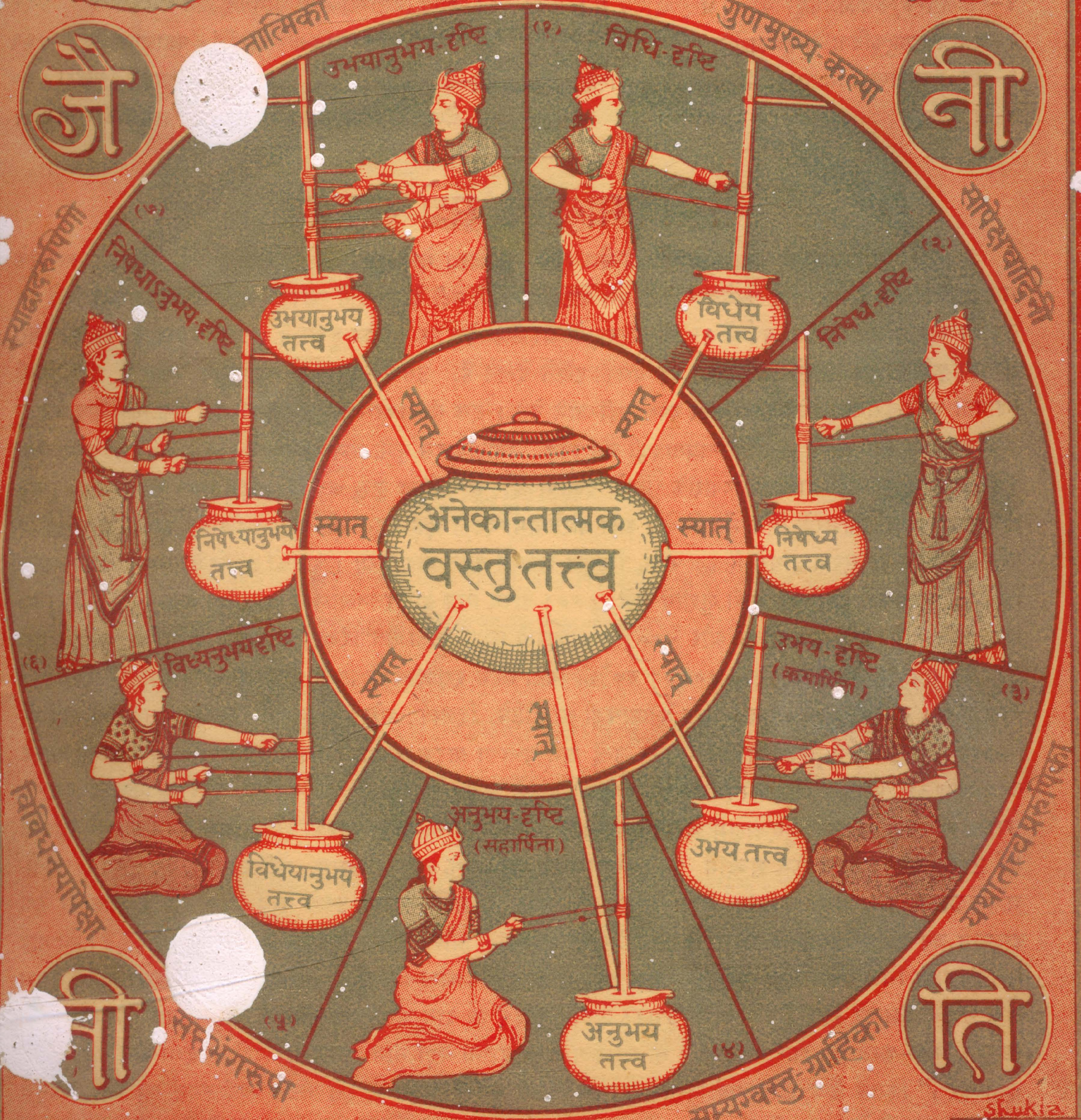

नी ति

वर्ष ४
किरण ८

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

सितम्बर
१९४१

सम्पादक - जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

१–अर्हन्महानद-तीर्थ—[परमानन्द जैन शास्त्री पृष्ठ ४२५
२–प्रतिमालेख-संग्रह, उसका महत्व [मुनि श्रीकांतिसागर ४२७
३–विश्वसंस्कृतिमें जैनधर्मका स्थान [डा० कालीदासनाग, ४३१
४–ग्वालियरके किलेकी जैनमूर्तियां– [श्रीकृष्णानंद गुप्त ४३४
५–अमोघआशा (कविता)–[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' ४३६
६–सयु० उत्तरलेखकी निःसारता [पं० रामप्रसाद शास्त्री ४३७
७–संशोधन ४४७
८–जिनदर्शनस्तोत्र (कविता)–[पं० हीरालाल पांडे ४४८
९–तपोभूमि (कहानी)–[श्री 'भगवत' जैन ४४९
१०–महाकवि पुष्पदन्त–[श्री पं० नाथूराम प्रेमी ४५५
११–रानी (कहानी)–[श्री 'भगवत्' जैन ४६२
१२–नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय–[पं० पन्नालाल जैन ४६६
१३–उ० पद्मसुन्दर और उनके ग्रंथ [श्री अगरचंद नाहटा ४७०
१४–जैनमंदिर सेठकूंचा देहलीके ह० लिखितग्रंथोंकी सूची ४७२

वीरसेवामन्दिरके सच्चे सहायक

श्रीमान् माननीय बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता मेरी तुच्छ सेवाओंके प्रति बड़े ही आदर-सत्कारके भावको लिये हुए हैं, यह बात 'अनेकान्त' के उन पाठकोंसे छिपी नहीं है जिन्होंने आपके विशुद्ध हृदयोंद्गारोंको लिये हुए वह पत्र पढ़ा है जो द्वितीय वर्षकी १२ वीं किरणके टाइटिल पेज पर मुद्रित हुआ है। यही कारण है कि आप मेरी अन्तिम कृतिरूप इस वीरसेवामन्दिरको बड़े प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं, उसके साथ पूर्ण सहानुभूति रखते हैं और उसकी सहायता करने-करानेका कोई भी अवसर व्यर्थ नहीं जाने देते। इस संस्थाको स्थापित करनेके कोई एक साल बाद जब मैं कलकत्ता गया तो आपने साहू शान्तिप्रसादजी जैन रईस नजीबाबादसे मुझे तीन हज़ार ३०००) रु० की सहायताका वचन 'जैनलक्षणावली' आदिकी तय्यारीके लिये दिलाया और मेरे बिना कुछ कहे ही चलते समय चुपकेसे ३००) रु० औषधालय तथा फर्नीचरके लिये भेंट किये। आप वीरसेवामन्दिरको एक बहुत बड़ी चिरस्मरणीय सहायता करना चाहते थे, परंतु दैवयोगसे वह सुयोग हाथसे निकल गया, जिसका आपको बहुत खेद हुआ। बादको आपने ५००) रु० अपने भतीजे चि० चिरंजीलालके आरोग्यलाभकी खुशीमें भेजे, १००) अपने मित्र बाबू रतनलालजी झाँझरीसे लेकर भेजे, २००) रु० अपने छोटे भाई बाबू नन्दलालसे और २००) रु० अपनी पूज्य माताजीसे दिलाये। अपनी धर्मपत्नीके स्वर्गारोहणसे पूर्व किये गये दानमेंसे पाँच हज़ार ५०००) रु० की बड़ी रकम इस संस्थाके लिये निकाली। 'अनेकान्त' पत्रके लिये स्वयं १२५) रु० भेजे, १००) रु० सेठ बैजनाथजी सरावगीसे दिलाये, और कलकत्तेके कितने ही सज्जनोंको स्वयं पत्र लिखकर तथा साथमें नमूनेकी कापियाँ भेजकर उन्हें अनेकान्तका ग्राहक बनाया। इसके सिवाय, गत मार्च मासमें आपके ज्येष्ठभ्राता बाबू फूलचन्दजीका स्वर्गवास हो गया था, उस अवसर पर सात हज़ार रुपयेका जो दान निकाला गया था उसका स्वयं बटवारा करते हुए हालमें आपने एकहज़ार १०००) रु० वीरसेवामन्दिरको प्रदान किये हैं। ऐसे सच्चे सहायक एवं उपकारीका आभार किन शब्दोंमें प्रकट किया जाय, यह मुझे कुछ भी समझ नहीं पड़ता! मेरा हृदय ही सर्वतो-भावसे उसका ठीक अनुभव करता हुआ आपके प्रति झुका हुआ है—शब्द उसके लिये पर्याप्त नहीं हैं, खास कर ऐसी हालतमें जब कि आभारके प्रकटीकरणसे आपको खुशी नहीं होती और अपने नाम तकसे आप दूर रहना चाहते हैं। मैंने भाई फूलचंदजीका चित्र प्रकाशनार्थ भेजनेको लिखा था, इसके उत्तरमें आप लिखते हैं—"मुख्तार साहब, आप जानते हैं हम लोग नामसे सदा दूर रहते हैं। चित्र तो उनका छपना चाहिये जो दान करें। हम लोग तो मात्र परिग्रहका प्रायश्चित्त—(अधूरा ही)—करते हैं। फिर भी ज़रा २ सी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु, क्षमा करें।" कितने ऊँचे, उदार एवं विशाल हृदयसे निकले हुए ये वाक्य हैं, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच बाबू छोटेलालजी जैनसमाजकी एक बहुत बड़ी विभूति हैं। मेरी तो शुद्धान्तःकरणसे यही भावना है कि आप यथेष्ट स्वास्थ्य-लाभके साथ चिरकाल तक जीवित रहें, और अपने जीवनकालमें ही वीरसेवामन्दिरको खूब फलता-फूलता तथा अपने सेवा-मिशनमें भले प्रकार सफल होता हुआ देखकर पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त करें। — जुगलकिशोर

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

विश्वतत्त्व-प्रकाशक | वस्तुतत्त्व-संद्योतक

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ४ किरण ८ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | आश्विन, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८ | सितम्बर १९४१

अर्हन्महानद-तीर्थ

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजन-तीर्थयात्रिक-दुरितं ।
प्रक्षालनैककारणमतिलौकिक-कुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम् ॥ १ ॥

लोकालोकसुतत्त्व-प्रत्यवबोधनसमर्थ-दिव्यज्ञान—
प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीलामलविशाल-कूल-द्वितयम् ॥ २ ॥

शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्—
स्वाध्यायमंद्रघोषं नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम् ॥ ३ ॥

क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदयाविकचकुसुमविलसल्लतिकम् ।
दुःसह-परीषहाख्य-द्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम् ॥ ४ ॥

व्यपगतकषाय-फेनं रागद्वेषादि-दोषशैवल-रहितं ।
अत्यस्तमोह-कर्दममतिदूरनिरस्तमरण-मकरप्रकरम् ॥ ५ ॥

ऋषिवृषभस्तुतिमंद्रोद्रेकित-निर्घोष-विविध-विहग-ध्वानम् ।
विविध-तपोनिधि-पुलिनं सास्रव-संवरण-निर्जरा-निःस्रवणम् ॥ ६ ॥

गणधर-चक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुंडरीकैः पुरुषैः ।
बहुभिः स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥ ७ ॥
अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तर समस्तदुरितं दूरम् ।
व्यवहरतु परमपावनमनन्यजय्यस्वभावभावगम्भीरम् ॥ ८ ॥

—चैत्यभक्तिः

'अरहंतरूपी महानदका तीर्थ (द्वादशांग श्रुतानुसारी शुद्ध जैनधर्म) तीन लोकके भव्यजीवरूपी यात्रियोंके दुरितों को प्रक्षालन करनेका—पाप मलोंको धोनेका—अद्वितीय कारण है। अर्थात् सांसारिक महानद तीर्थ जब कतिपय जीवोंके शारीरिक बाह्यमलका ही धोनेमें समर्थ होता है—अन्तरंग पापमलको धोना उसकी शक्तिसे बाहर है—तब अरहंतरूपी महानद-तीर्थ त्रिलोकवर्ती समस्त भव्यजीवोंके द्रव्य-भावरूप समस्त पापमलोंको धो डालनेमें समर्थ है—इसके प्रभावसे आत्मा राग-द्वेषादि विभावमलसे रहित होकर अपने शुद्धचैतन्य-स्वरूपमें स्थिर होजाता है। यह महानद लोकमें प्रसिद्ध हुए दम्भादि-प्रधान कुतीर्थोंको अतिक्रान्तकर चुका है—उनके स्वरूपका उल्लंघन करनेसे दंभादि रहित है—अतएव उत्तमतीर्थ है॥१॥

जिस तीर्थमें लोक और अलोकके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें समर्थ दिव्यज्ञानका—केवलज्ञानका—प्रतिदिन प्रवाह वह रहा है, और निर्दोष व्रत तथा शील ही जिसके दोनों निर्मल विशाल तट हैं—किनारे हैं ॥२॥

जो तीर्थ शुक्लध्यानरूप निश्चल शोभायमान राजहंसोंसे विराजित है—शुक्लध्यानी मुनि पुंगवरूप राजहंसोंकी स्थिर स्थितिसे जिसकी शोभा बढ़ी हुई है, जहाँपर स्वाध्यायका निरन्तर ही मनोज्ञ नाद (शब्द) रहता है तथा जो नाना प्रकारके गुणों, समितियों और गुप्तियों रूप सिकताओं (बालू रेतों) से मनोग्य है—सुन्दर है ॥३॥

जिस तीर्थमें क्षमा-सहिष्णुतारूपी सहस्रों आवर्त उठ रहे हैं, जो सर्व प्राणियोंकी दयारूप विकसित पुष्पलताओंसे सुशोभित है और जहाँ दुस्सह क्षुधादि परीषह रूपी शीघ्र फैलती हुई तरंगोंका समूह विनश्वररूपमें—उत्पन्न हो होकर नाश होता हुआ—देखा जाता है ॥४॥

जो तीर्थ कषायरूपी फेनसे-झागसे रहित है, राग-द्वेषादि दोषरूपी शैवाल जिसमें नहीं है, मोहरूपी कर्दम (कीचड़) से जो शून्य और मरणोंरूपी मकरोंके समूहसे भी विहीन है ॥५॥

जिस तीर्थमें ऋषि पुंगवों—गणधरदेवादिकोंके द्वारा की गई स्तुतियों एवं शास्त्रपाठकी मधुर ध्वनिरूपी अनेक पक्षियोंका सुन्दर कलरव है, विविध प्रकारके तपोंके निधानस्वरूप मुनीश्वर ही जहाँ पर पुल हैं—संसाररूपी सरित्प्रवाहमें बहने वाले जीवोंके लिये उत्तरण स्थान हैं—और जहाँ कर्मास्रवके निरोधरूप संवरसहित उपार्जित एवं संचित कर्मोंके लिये निर्जरा रूप निर्गमस्थान हैं ॥६॥

इस प्रकारके जिस महान् तीर्थमें गणधर-चक्रवर्ती आदि बहुतसे महान् भव्योत्तम पुरुषोंने कलिकालजन्य मल को दूर करनेके लिये भक्तिपूर्वक स्नान किया है ॥७॥

उस परम पावन अर्हन्महानद तीर्थमें, जोकि परवादियोंके द्वारा सर्वथा अजेयस्वभावरूप जीवादि पदार्थोंसे गम्भीर है—अगाध है—, मैं भी स्नान करनेके लिये—अपना कर्ममल धोनेके लिये—अवतीर्ण हुआ हूँ—उसमें अवगाहनका मैंने दृढ़ संकल्प किया है। अतः मेरा भी वह सम्पूर्ण दुस्तर कर्ममल पूर्णतया दूर होवें—इस तरहके निर्मूल नाशको प्राप्त होवे कि जिससे फिर कभी उसका संग मुझे प्राप्त न होसके ॥८॥'

—परमानन्द जैन शास्त्री

प्रतिमा-लेख-संग्रह और उसका महत्त्व

[लेखक—मुनि श्री कान्तिसागर जी]

भारतवर्ष सहस्रों वर्षोंके अगणित ऐतिहासिक खण्डरोंकी भूमि है। इन खण्डरोंको सूक्ष्मदृष्टिसे यदि यत्नके साथ खनन किया जाय तो निःसन्देह भारतीय इतिहासके असंख्य साधन प्राप्त हो सकते हैं। भारतका इतिहास हमारे पास पूरी तौर से मौजूद है ऐसा हम नहीं कह सकते, लेकिन हमारे पास इतिहासकी सामग्री ही नहीं है यह कहनेका भी हम कदापि साहस नहीं कर सकते। क्योंकि भारतमें बहुतसे नगर व प्राचीन स्थान ऐसे हैं, जहाँ कुछ न कुछ ऐतिहासिक साधन अवश्य मिलते हैं। उनको शृंखलाबद्ध कर निष्पक्षपाती विद्वान् ही इतिहासके लिखनेमें पूर्णरूपसे सफल हो सकता है। हर्षका विषय है कि अभी कलकत्तेमें भारतका इतिहास लिखा जारहा है, जिसके मुख्य लेखक यदुनाथ सरकार हैं। यह सम्पूर्ण इतिहास प्रकाशित होनेपर वेदवचन-तुल्य माना जायगा। अतः प्रत्येक जैनीका यह परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह भी उक्त महान् कार्यमें यथाशक्ति तन, मन और धनसे सहायता करे।

मानव-जीवनमें इतिहासका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इतिहासमें जो गूढ़ शक्तिएँ छिपी हुई हैं वे अकथनीय हैं। पड़िहार राजा बाउकके वि० सं० ८९४ के शिलालेखका मंगलाचरण भी इतिहासके गौरवको इस प्रकार बतलाता है :—

गुणाः पूर्वपुरुषाणां, कीर्त्यन्ते तेन पण्डितैः।
गुणाः कीर्तिर्न नश्यन्ति, स्वर्गवासकरी यतः॥ २॥

अर्थात्—पण्डित लोग इसीलिये अपने पूर्वजोंके गुणोंका कीर्तन करते हैं; क्योंकि स्थायी रहनेवाली गुणोंकी कीर्ति स्वर्गवास देनेवाली होती है।

एक अंग्रेज विद्वान् इतिहासके विषयमें इस प्रकार कहते हैं :—"History is the first thing that should be given to children in order to form their hearts and under-standing". —*Rolis.*

यह भी एक सर्वमान्य नियम है कि अतीतके प्रकाश विना वर्तमान काल कदापि प्रकाशित नहीं हो सकता। इतिहासमें वह शक्ति है कि बलहीन मनुष्यमें भी बलका संचार सहूलियतसे कर सकता है। इतिहास जैसे महान् शास्त्रपर विशेष लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है।

भारतीय इतिहासमें जैन इतिहासका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विना जैन इतिहासके भारतीय इतिहास अपूर्ण है। कोई भी इतिहास-लेखक चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय, उसे जैन इतिहास पर अवश्य दृष्टि डालनी पड़ेगी, क्योंकि जैनियों का इतिहास मात्र धार्मिक दिशा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत सामाजिक एवं राजनैतिक आदि अनेक दृष्टियोंसे महत्त्व पूर्ण है।

इतिहासके अनेक साधनोंमेंसे प्रतिमा-लेख भी एक प्रधान साधन है। भारतवर्षमें प्रतिमा-लेख जितने जैन समाजमेंसे प्राप्त होते हैं उतने शायद ही किसी अन्य समाजमें उपलब्ध होते हों। पुरातन कालसे धातु-प्रतिमा बनानेकी प्रणाली भारतीय जैन समाजमें

बहुत प्रचलित है। इसमें भी मुग़ल समयकी बनी हुई धातु प्रतिमाएँ प्रचुर मात्रामें यत्रतत्रोपलब्ध होती हैं। इसका प्रधान कारण यही होना चाहिए कि वे लोग मुसलमान मसजिदको छोड़कर सभी मजहबके मंदिरों व पुरातनावशेषोंको नष्ट करनेमें ही अपनी महान् वीरता समझते थे। (अजन्टाकी गुहाओंमेंकी बहुत सी प्राचीन और कलापूर्ण बौद्ध मूर्तियोंके नाक, हस्त आदि अवयव मुग़लोंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं) इसवास्ते जैनी लोग प्रायः धातुकी मूर्तियाँ बनाकर पूजन करते थे। शिल्पशास्त्रका नियम है कि गृह-मंदिरमें ११ अंगुल तककी प्रतिमा ही होनी चाहिए। यद्यपि विशालकाय धातुमूर्तियाँ पाई जाती हैं, वे शिखरबंद जैन मन्दिरमें स्थापित की जाती थीं। मुग़ल समयमें शिखरबंद जैनमंदिर भी पाये जाते हैं। जैनाचार्योंने राजदरबारमें जाकर मुगलसम्राट्को स्वआचरण सेरंजित कर काफ़ी सन्मान संपादन किया, इसे इतिहास बतला रहा है। खरतरगच्छीय श्री जिनप्रभसूरि और आचार्य श्री जिनचंद्रसूरिजी इसके उदाहरण रूप हैं। मेरे ख़यालमें जबसे जैनाचार्योंका राजदरबार से विच्छेद हुआ तबसे जैन समाजकी कुछ अवनति ही पाई जाती है। ख़ैर! जो कुछ हो, आज जैन समाज की संख्या दूसरोंकी अपेक्षा अल्प है, फिर भी भारतीय समाजोंमें जैन समाजका स्थान बहुत ऊँचा है।

प्रतिमालेखोंकी उपयोगिता

प्रतिमालेखोंकी ऐतिहासिकता इसलिये अधिक मानी गई है कि उनपर किंवदन्तियों व अतिशयोक्तियोंकी असर अधिक नहीं गिर सकती। क्योंकि लिखनेकी जगह कम होनेसे मुख्य मुख्य बातें ही उल्लिखित होती हैं। और इसीलिये विद्वत्समाज जितना विश्वास उत्कीर्ण लेखों पर रखता है। उतना तात्कालिक ग्रन्थों पर नहीं। आज हम देखते हैं कि एक एक शब्दको पढ़नेके लिये पुरातत्त्वविभागोंके द्वारा हज़ारों रुपयोंका व्यय किया जाता है। जैन मंदिरोंमें धातुकी प्रतिमाओंकी बहुलता रहती है, प्रायः प्रत्येक प्रतिमाके पीछेके भागमें लेख उत्कीर्ण होता है, उसमें प्रतिमा बनानेवालेका नाम तथा प्रतिष्ठा करवानेवालेका नाम, आचार्य व भट्टारकका नाम, और भी अनेक ऐतिहासिक बातें खुदी हुई रहती हैं। प्रतिमाके लेखोंसे अनेक बातों का पता चलता है; जैसे कौन कौन जातियोंने प्रतिमाएँ बनवाईं, वर्तमानमें उन जातियोंमेंसे जैनधर्मका कौन कौन जातियाँ पालन करती हैं। कौनसे गच्छ या संघके आचार्य व भट्टारकने प्रतिष्ठा करवाई, वर्तमानमें कौन कौन गच्छ उनमेंसे विद्यमान हैं, आचार्यों व भट्टारकोंकी शिष्य-परमपरा, राजाओं, मंत्रियों व नगरोंके नामादिक। और भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें प्रतिमा-लेखोंसे ही जानी जा सकती हैं। प्राचीन प्रतिमाओंके देखनेसे यह भी मालूम होजाता है कि तत्कालीन कला-कौशल्य कितने ऊँचे दर्जेका था, कौनसी शताब्दिमें किस ढंगसे प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं तथा लिपिमें किस शताब्दिमें कैसा परिवर्तन हुआ। इत्यादि। ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिमें भी प्रतिमालेखोंका स्थान महत्त्वका है। कौनसे सालमें, कौनसे मासमें अविवृद्धि(?) हुई थी यह प्रतिमालेखोंमें लिखा रहता है। मैं अनुभवसे कह सकता हूँ कि २५ या ५० वर्षोंमें लिपिमें अवश्य परिवर्तन पाया जाता है। उदाहरणार्थ १४५० की प्रतिमापर खुदे हुए लेख को देखता हूं यब उस लिपिकी मरोड़में बहुत कुछ अंतर मालूम पड़ता है। धातु प्रतिमाओंके लेख प्रायः पड़ी मात्रामें लिखे हुए पाये जाते हैं। किसी किसी

प्रतिमामें तो लेखान्त-मार्गमें सुन्दर चित्र आलेखित होता है। ऐसे चित्र मैंने श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत अंचलगच्छके आचार्योंकी प्रतिष्ठित की हुई मूर्तियोंमें विशेषरूपसे देखे हैं। धातु प्रतिमा लेख इतने स्पष्ट और सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होते हैं कि मानो सुन्दर हस्तलिखित पुस्तक ही हो। अर्थात् हस्त-लिखित पुस्तकोंके अक्षरोंसे ये प्रतिमालेख बड़ी सहूलियतसे मुकाबला कर सकते हैं।

धातु-प्रतिमालेख श्वेताम्बर व दिगम्बर भेदकी वजहसे दो भागोंमें विभाजित है। पश्चिम भारत व राजपूतानेके अधिकतर प्रतिमालेख श्वेताम्बर संप्रदायसे संबन्ध रखते हैं और दक्षिण भारतके लेख विशेषतः दिगम्बर संप्रदायसे। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीनकालसे पश्चिमी भारत में श्वेताम्बरोंका और दक्षिण भारतमें दिगम्बरोंका प्रभुत्व रहा है।

यहाँ जो लेख मैं आपके सन्मुख उपस्थित कर रहा हूँ वे सब दिगंबर संप्रदायसे संबंध रखते हैं। प्रतिमा लेखोंका जो लिपिकौशल्य श्वेताम्बर मूर्तियोंमें पाया जाता है वह खेद है कि दिगंबर मूर्तियोंमें मेरे देखनेमें नहीं आया। यह बात ऐतिहासिक होनेसे यहां लिखनी पड़ती है। एक बात और भी है और वह यह कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायोंमें प्रतिमा व शिलालेखोंकी लेखन-प्रणाली भिन्न २ मालूम होती है। पहले संवत्, उपदेशक भट्टारकका नाम, पीछे मूर्ति बनवाने वालेका नाम व अंतमें भगवानके नामके बाद 'नित्यं प्रणमंति' यह प्रणाली दि० संप्रदायकी है। श्वे० संप्रदायमें संवत् निर्देश करनेके बाद प्रतिमा बनवाने वालेका, भगवानका, प्रतिष्ठित आचार्य व नगरका नाम आता है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदायकी मूर्तिके अंत भागमें भी 'प्रणमंति' शब्दका उल्लेख पाया जाता है लेकिन वह अपवादिक है। इसके सिवाय दिगम्बर शिला व प्रतिमा लेखोंमें अधिकतर शक संवत्का उल्लेख पाया जाता है, जब कि श्वेताम्बर लेखोंमें प्रायः विक्रम संवतका। इस विषयमें मैंने एक विद्वान्से पूछा था, उन्होंने ऐसा कहा कि वि० सं० की ऐतिहासिकतामें विद्वानोंको बड़ा भारी शक है और शक संवत्-प्रवर्तक महाराजा सातवाहन जैनी थे, इसीलिये शक संवत्का उल्लेख बड़े गौरवसे किया जाता है। सातवाहनके जैनत्वके विषयमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु वि० सं० को अनैतिहासिक बतलाना नितांत गलती जान पड़ता है। हाँ! ऐसा हो सकता है कि दक्षिणमें शक संवत्का उपयोग ज्यादा किया जाता हो और गुजरातमें विक्रमका।

प्रतिमालेखसंग्रहको देनेके पूर्व हम यहां पर एक बात और प्रकट करना चाहते—हैं वह यह कि प्रतिमा-लेख-संग्रहकी प्रणाली हालमें ही शुरु नहीं हुई बल्कि पूर्वकालमें भी वह पाई जाती है। आजसे कोई १०० वर्ष पहिले वि० सं० १९०० में एक यतिजी सिद्धाचल जी की यात्राके लिये गये हुए थे उन्होंने वहांके कई शिला व प्रतिमा-लेखोंकी ज्योंकी त्यों (कार्पीटूकापी) प्रतिलिपि की थी, वह कापी ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी है और मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। एक और भी प्राचीन लेखोंकी प्रतिलिपिकी प्रति मेरे संग्रहमें है। जिसमेंके लेख महिमापुर-मंदिर-प्रशस्ति और बीकानेर नरेश सूरतसिंहजीके साथ विशेष संबन्ध रखते हैं। प्रतिलिपि करने वाला क्षमा-कल्याणजीकी परंपराका होना चाहिए; क्योंकि इसमें उक्त मुनिजी की प्रतिष्ठित की हुई मूर्तियोंके लेखोंकी बाहुलता है।

पुरातनकालमें यति मुनि जहाँ भी प्रतिष्ठा करवाते थे वहाँ के लेखोंकी प्रतिलिपि अपने दफ्तरोंमें याददाश्त के लिये रखते थे। श्रीपूज्योंके दफ्तरोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे संशोधित परिवर्द्धित करके यदि प्रकाशित किया जाय तो ऐतिहासिक सामग्रीमें बहुत कुछ अभिवृद्धि हो सकती है।

एक बात यहां पर और भी उल्लेखनीय है, जो प्रतिमाशास्त्रज्ञोंके लिये बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, और वह यह कि दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों संप्रदायोंकी मूर्ति-निर्माण-कला भी प्रायः भिन्न रही है। हमने दि० संप्रदायकी काफी मूर्तियोंका अध्ययन किया है। उस परसे हम कह सकते हैं कि दि० मूर्तियोंके आगेके भागमें प्रायः एक ओर चरण, दूसरी ओर 'नमः' पाया जाता है। ये दो चिन्ह क्यों बनाये जाते हैं समझमें नहीं आता। लेकिन मेरा यह अनुमान है कि चरण इस लिये बनाये जाते होंगे कि कुछ समय पूर्व दि० संप्रदायमें साधु विच्छेद होगये थे इस वास्ते चरणको गुरुके रूपमें मानते हो तो कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है। दूसरा जो चिन्ह है वह शास्त्रका द्योतक है। साथमें इस बातका भी स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों चिन्ह सभी मूर्तियोंमें नहीं पाये जाते हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदाय-भेद होनेका इतिहास तो पाया जाता है मगर मूर्तियोंमें कब भेद पैदा हुआ यह बात ठीक रूपसे नहीं कह सकते। इस भेदके इतिहासको लिखनेके पहिले प्राचीनसे प्राचीन दि० व श्वे० मूर्तियोंके फोटो तथा विस्तृत परिचय देकर एक महान् ग्रंथ तैयार करना चाहिए। क्या दोनों संप्रदायके विद्वान व श्रीमान इस बात पर ध्यान देंगे? यदि यह कार्य किया जाय तो बहुत बड़ी उलझनें सुलझ जायंगी। 'जैनमूर्ति-पूजा-शास्त्र' नामक निबन्ध (thesis) Ph.d. की डिग्रीके लिये मेरे गुरुवर्य उपाध्याय श्रीसुखसागरजीने लिखा है। इस ग्रंथ में दोनों संप्रदायोंके प्राचीन-अर्वाचीन मूर्तियोंके फोटो दिये जावेंगे। (क्रमशः)

वीरसेवामन्दिर सरसावाकी भीतरी बिल्डिंगके एक भागका दृश्य

वीरसेवा-मन्दिर सरसावाके पूर्वद्वारका दृश्य

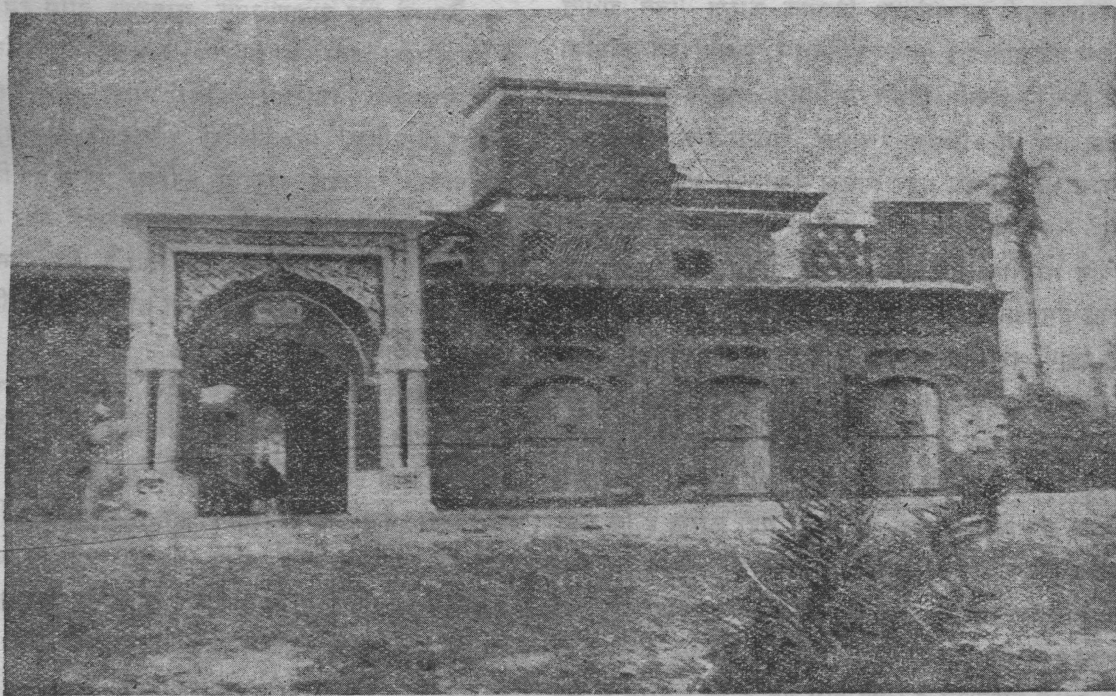

वीरसेवा-मन्दिर सरसावाके उत्तरद्वारका दृश्य

विश्व-संस्कृतिमें जैनधर्मका स्थान

(ले०—डा० कालीदास नाग, एम० ए०, डी० लिट०)

जैनधर्म और जैन संस्कृतिके विकासके पीछे शताब्दियोंका इतिहास छिपा पड़ा है। श्री ऋषभदेवसे लेकर बाईसवें अर्हत श्री नेमिनाथ तक महान् तीर्थंकरोंकी पौराणिक परंपराको छोड़ भी दें, तो भी हम अनुमानतः ईसवी सन्से ८७२ वर्ष पूर्वके ऐतिहासिककालको देखते हैं, जब तेईसवें अर्हत श्रीभगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्षकी आयुमें घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन्से ७७२ वर्ष पूर्व बिहारके अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथने जिस निगन्थ सम्प्रदायकी स्थापना की थी, उसमें काल-गतिसे उत्पन्न हुए दोषोंका सुधार श्रीवर्धमान महावीरने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजयके कारण 'जिन' अर्थात् विजयी कहलाते हैं। अतएव जैनधर्म, अर्थात् उन लोगोंका धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, एक महान् धर्म था; जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धर्मके संस्थापक नहीं, बल्कि एक प्राचीन धर्मके सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्यमें महावीर गौतम बुद्धके कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जैनसाहित्यमें कई स्थानों पर गौतम बुद्धके लिये यह बतलाया गया है कि वे महावीरके शिष्य गोयम नामसे प्रसिद्ध थे। बादमें उत्पन्न हुए पक्षपात और मतभेदके कारण बौद्ध लेखकोंने निगन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्धका प्रतिपक्षी बताया। वास्तवमें दोनोंके दृष्टिकोणोंमें फ़र्क़ था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्मका दुनियाके बड़े भागमें प्रसार हुआ, किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धर्म ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज़ने कहा है, दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे जैनधर्म भी एक अर्थमें विश्वधर्म है। वह अर्थ यह है कि जैनधर्म न सब केवल जातियों और सब श्रेणियोंके लोगोंके लिये ही है, बल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पाताल वासियोंके लिये भी है। विश्वात्मक सहानुभूति-सहित यह व्यापक दृष्टि और बौद्धोंका मैत्रीका सिद्धान्त दोनों बातें जैनधर्ममें अहिंसाके आध्यात्मिक सिद्धान्त-द्वारा मौजूद हैं। इस-लिये जैनधर्म और बौद्धधर्मका तुलनात्मक अध्ययन बहुत पहलेसे ही किया जाना चाहिये था। आज ईसवी सन्से पहलेके १००० वर्षोंमें हिन्दुस्तानके आध्यात्मिक सुधारके आन्दोलनोंको जो समझना चाहते हैं, उनके लिये इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनकी अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशियाभर में उग्र राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेरका था; उसी समय एशियामें कई महान द्रष्टा और धर्म संस्थापक उत्पन्न हुए, जैसे ईरानमें ज़रथुस्त्र और चीनमें लाओत्ज़े और कनफ्यूसियस।

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्मके सम्बन्धके बारेमें हम देखते हैं कि साराका सारा जैनसाहित्य ब्राह्मण संस्कृतिकी ओर बौद्ध लेखकोंके विचारोंकी अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनिज़, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानोंने इस बातको ज़ोरदार शब्दोंमें स्वीकार किया है कि जैन लेखकोंने भारतीय साहित्यको सम्पन्न बनानेमें बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्यका शायद ही कोई अंग बचा हो, जिसमें जैनियोंका अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।"

इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवनचरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्यमें भी जैन लेखकों की संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, जिनसेन, हेमचन्द्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकोंने आधुनिक भारतवासियोंके लिये एक बड़ी सांस्कृतिक सम्पत्ति जमा करके रखदी। इस बातका प्रतिपादन तपगच्छके सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, लेखक और सुधारक श्रीयशोविजयजीने किया है, जिनका समय सन् १६२४-८८ के

बीचका है। ईसवी सन्से एक शताब्दी बाद जैनियोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर जो फ़िर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुषने किया था।

इस महान् साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियोंका, श्वेताम्बरियोंका, स्थानकवासियोंका, तेरा पंथियों या किसी दूसरे सम्प्रदायके लोगोंका ही कर्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञानके सभी प्रेमियोंका कर्तव्य है।

जैनियोंका सैद्धान्तिक साहित्य आजभी केवल कुछ विशेषज्ञों और विभिन्न सम्प्रदायोंके लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त-प्रतिपादनके अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है, उसका भी आजतक पूर्ण रीतिसे अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू-तत्त्वज्ञानके कितने विद्यार्थी यह जाननेकी परवाह भी करते हैं कि जैनियोंने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकासमें कितना योग दिया है? कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि रामायण और महाभारतकी कथाओं, एवं पुराण और कृष्णकी कहानियों पर जैन लेखकोंने भी कितना लिखा है। भारतीय कलाके कितने विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन अजन्ता-कालकी चित्रकला और मध्य-युगकी राजपूत-कलाके बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखकोंने भारतकी कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तरमें गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी, तथा दक्षिणमें तामिल, तेलगु और कनाड़ी आदिको साहित्य सम्पन्न करनेमें कितनी सहायता दी है। इन भाषाओंमें आज भी जैनधर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचनपूर्ण प्रबन्ध छपते हैं; किन्तु अभी तक किसी भी जैनसंस्थाने इस समस्त सामग्रीकी सर्वसाधारण के लिये एक बृहत् सूची बनानेका प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७६–७८ में हस्तलिखित जैन ग्रन्थोंका एक बड़ा संकलन बर्लिनकी रायल लायब्रेरीके लिये जार्ज बूल्हर ने किया था। और जैनसाहित्यके विस्तृत विवरणका भी पहला प्रयत्न सन् १८८३–८५ के आस पास प्रोफ़ेसर ए० वेबरने किया था। सन् १९०६ और १९०८ के बीचमें पेरिसके विद्वान प्रो० ए० गुरीनां महोदयने अपनी 'studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमें उसके बाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया; जबकि गत तीस वर्षोंमें उत्तर और दक्षिण भारतमें नये हस्तलिखित जैनग्रंथों और शिलालेखोंके ढेरके ढेर मिले हैं। हाल ही में दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा०, एम० एच० कृष्णने 'श्रवण बेल गोलामें गोमटेश्वरके मस्तकाभिषेक' पर खोजपूर्ण विवेचन किया है। डा०, बी० ए० सालतोर और श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगरने भी दक्षिण भारतीत जैनधर्मके अध्ययनमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। (देखो जैन एंटीक्वेरी, मार्च १९४०)। इण्डियन म्यूज़ियमके क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्रने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुरनन, और उसके मन्दिर" में दक्षिण भारणके जैनस्मारकों के बारेमें बहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षीने कई जैन गुफाओं और जैनचित्रोंका पता लगाया है, जिनमें तीर्थंकरोंके जीवनकी सामग्री है। ख़ासतौरसे पुदुक्कोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्न-वासल ग्राममें यह खोज हुई है।

[पर्युषन-पर्व-व्याख्यानमाला]

卐

ग्वालियरके किलेकी कुछ जैनमूर्तियाँ

[लेखक—श्रीकृष्णानन्द गुप्त]

ग्वालियरका क़िला एक विशाल पहाड़ी चट्टानपर स्थित है। इस पहाड़ीमें होकर शहरसे क़िलेके लिये एक सड़क जाती है। मूर्तियोंमेंसे कुछ तो इस सड़कके दोनों ओर चट्टान पर खुदी हैं, और कुछ दूसरी दिशामें हैं। पत्थरकी कड़ी चट्टानको खोदकर ये मूर्तियाँ बनाई गई हैं।

भारतवर्षमें ऐसे कई स्थान हैं, जहाँ कड़ी चट्टानोंको खोदकर इस तरहकी मूर्तियों और गुफाओंका निर्माण किया गया है। भारतीय कलामें इनका एक विशेष स्थान है। गुफाएँ तो अपनी अद्भुत कारीगरीके लिये संसार भरमें प्रसिद्ध हैं। इनके अनुपम शिल्प-कौशलको देखकर साधारण दर्शक ही चकित होकर नहीं रह जाते, बल्कि बड़े-बड़े कला-मर्मज्ञ भी दाँतों तले उँगली दबाते हैं। ये गुफाएँ और मूर्तियाँ बौद्ध, जैन और ब्राह्मण, इन तीनों धर्मोंसे सम्बन्ध रखती हैं। कहीं-कहीं केवल एक धर्मकी, और कहीं तीनों धर्मोंकी गुफाएँ और मूर्तियाँ पाई जाती हैं। एलौराके गुहा-मन्दिरोंमें तीनोंके उदाहरण मौजूद हैं। इनमें बौद्ध गुफाएँ सबसे प्राचीन हैं। फिर ब्राह्मण गुफाएँ बनी हैं, और उसके बाद जैन गुफाएँ। एलीफेन्टाकी गुफाओंमें शैव धर्मकी प्रधानता है। बीजापुरके निकट 'बादामी' नामक एक स्थान है, वहाँ एक पहाड़ीको काटकर जो चार उपासना-घर बनाये गये हैं, वे तीनों धर्मोंकी कलाके द्योतक हैं। जबकि अजन्ता की गुफाएँ मुख्यत: बौद्ध धर्मसे सम्बन्धित हैं। ब्राह्मण और बौद्ध इस प्रकारके स्थापत्यके विशेष रूपसे प्रेमी रहे हैं। इन गुफाओंके भीतर प्रवेश द्वारसे लेकर एक दम अन्त तक मनुष्यकी प्रतिभा, कला, धर्म, उपासना, धैर्य्य, और हस्त-कौशलके आश्चर्यजनक दर्शन होते हैं। एलौराका कैलाश-मंदिर तोजगत्-प्रसिद्ध है। यह एक पहाड़ीको काटकर बनाया गया है। बीचमें मंदिर, उसके चारों ओर मंदिरकी परिक्रमा, और फिर परिक्रमाके साथ ही चारों तरफ दालानें भी हैं, जिनमें ऐसी सुन्दर और सजीव मूर्तियाँ स्थापित हैं कि जान पड़ता है वे सब अभी बोल पड़ेंगी। ये सब मूर्तियाँ भी चट्टानमेंसे काटकर बनाई गई हैं। दूसरी जगहसे लाकर नहीं रक्खी गई। मुझे अजन्ता और एलौरा जानेका सुअवसर मिला है। हम लोग इन स्थानोंके कितने ही चित्र देखें, पुस्तकोंमें उनका कितना ही वर्णन पढ़ें, परन्तु वहाँ पहुँचने पर जो दृश्य देखनेको मिलते हैं वह कल्पनासे एक दम परे, आश्चर्य-जनक और भव्य हैं। मनुष्य वहाँ जाकर अपनेको खो बैठता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह मायासे बनी हुई किसी अलौकिक पुरीमें आगया है।

परन्तु एलौरामें जो जैन-गुफाएँ हैं उनकी कारीगरी भी कम आश्चर्य-जनक नहीं है। जैनियोंकी कलाका एक विशेष रूप वहाँ देखनेको मिलता है। जब मैं एलौरा गया तो वहाँ बाहरके एक मिश्नरी यात्री ठहरे हुए थे। वे अपनी प्रात: और संध्या कालीन प्रार्थना नित्य एक जैन गुफामें जाकर किया करते थे। बात चीत होने पर उन्होंने कहा कि इस स्थानका वातारण इतना शान्त और पवित्र है कि उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जैन-गुफाओंकी एक विशेषता यह है कि वहाँ तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ काफ़ी संख्यामें बनी रहती हैं। एलौरामें जो गुफाएँ मैंने देखीं, वहाँ जैन तीर्थङ्करों की पंक्तियाँकी पंक्तियाँ विराजमान थीं। परन्तु जैनियोंने पत्थरकी कड़ी चट्टानोंको काटकर एक दूसरे ही रूपमें अपने देवताओंको मूर्तिमान किया है। ग्वालियरमें शायद उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देखनेको मिलते हैं। वहाँ गुफाएँ न बना कर केवल चट्टानों पर ही उन्होंने विशाल और भव्य मूर्तियाँ अंकित की हैं।

यों तो क़िलेमें कई जगह जैनमूर्तियाँ खुदी हैं, परन्तु दक्षिण-पूर्वकी ओर तथा पहाड़ीकी एक ओर घाटीमें जो जो मूर्तियाँ हैं वे विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। क़िलेपरसे एक बढ़िया सड़क घाटीमें होकर नीचे आती है, और वहाँसे लश्करकी तरफ़ गई है। ऊँचाईपर होने, तथा पहाड़ी रास्तेमें होकर आनेकी वजहसे एक तो यह सड़क यों ही बहुत रमणीक है, परंतु दोनों ओर चट्टानपर खुदी हुई भगवान आदिनाथ, महावीर तथा अन्य कई जैन तीर्थकरोंकी विशाल और भव्य मूर्तियोंके कारण तो वह और भी सुन्दर और दर्शनीय

बन गई है। यहां कुल २४ मूर्तियाँ हैं। इनके निर्माणका समय हमें उन शिलालेखोंसे ज्ञात हो जाता है जो यहाँ अंकित हैं, और काफ़ी स्पष्ट हैं। ये शिलालेख संवत् १४९७ (ई० सन् १४४०) और १५१० (ई० सन् १४५३) के हैं। इससे प्रकट होता है कि ये मूर्तियाँ तोमर राजाओंके समय की बनी हैं। दुर्भाग्यवश वे अपनी असली हालतमें नहीं हैं। मुसलमानोंकी धार्मिक असहिष्णुताके कारण बहुत कुछ नष्ट हो चुकी हैं। बाबर जब सिंहासन पर बैठा तो इन मूर्तियोंपर उसकी खास तौरसे नज़र पड़ी। आत्मचरितमें एक स्थानपर इन मूर्तियोंका ज़िक्र करते हुए बाबरने लिखा है—"लोगों ने इस पहाड़ीकी कड़ी चट्टानको काटकर छोटी-बड़ी अनेक मूर्तियां गढ़ डाली हैं। दक्षिणकी ओर एक बड़ी मूर्ति है जो करीब ४० फीट ऊँची होगी। ये सब मूर्तियाँ नग्न हैं। वस्त्र के नामसे उनपर एक धागा भी नहीं। यह जगह बड़ी खूबसूरत है। परन्तु सबसे बड़ी खराबी यह है कि ये नग्नमूर्तियाँ मौजूद हैं। मैंने इनको नष्ट करनेकी आज्ञा दे दी है।"

यद्यपि यत्र-तत्र इन मूर्तियों पर प्रहारके चिन्ह मौजूद हैं। फिर भी कुल मिलाकर वे अच्छी हालतमें हैं। यह बड़ी बात है। क़िलेसे बाहर निकलते ही, ज्यों ही आगे बढ़िए, आदिनाथकी एक विशाल मूर्ति बरबस हमारी दृष्टि आकृष्ट करती है। बाबरकी आत्म-जीवनीसे ऊपर हमने जो अंश उद्धृत किया है उसमें ऊँचाई चालीस फीट बताई गई है, परन्तु वह सत्तावन फीटसे कम ऊँची नहीं है। जैनियोंकी इतनी बड़ी मूर्ति भारतमें एकाध जगह ही और है। मूर्तिकी विशालतासे दर्शक एकदम चकराकर रह जाता है। कल्पना काम नहीं करती। जिन कलाकारोंने इस मूर्तिको गढ़ा होगा वे आज हमारे सामने नहीं हैं। उनका नाम भी हमें ज्ञात नहीं। नामकी उन्हें इतनी परवा भी न थी। परन्तु उनकी अनोखी कला, उनका अनुपम शिल्प-कौशल, उनका अतुलित धैर्य, उनकी अटूट साधना, आज मानों आदिनाथ भगवानकी इस मूर्तिके रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इस कला-मूर्तिको एक बार प्रणाम करके हमने उसे पुनः ध्यान पूर्वक देखा। मुख मण्डल पर जैसे कुछ उपेक्षाका भाव है। परन्तु फिर भी मूर्ति आकर्षक है। इस प्रकारकी सभी बड़ी जैन-मूर्तियोंमें एक प्रकारकी जड़ता-सी दृष्टि गोचर होती है। अहारमें जो मूर्ति है उसके कटि-प्रदेशसे ऊपरका भाग तो अत्यन्त सुन्दर है। मुख मण्डलपर सौम्यताका एक अलौकिक भाव है। उँगलियाँ बड़ी कोमल और कला-पूर्ण हैं। परन्तु कटि-प्रदेशसे नीचेका भाग उतना मृदुल और सजीव नहीं है। इसका कारण इन मूर्तियोंकी विशालता ही है। बड़े रूप में अंग-विन्यासकी कोमलताकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। इन मूर्तियोंके पैर तो विशेष रूपसे कुछ जड़ होजाते हैं। आदिनाथ भगवानकी मूर्तिके पैर नो फीट लम्बे हैं और वह चक्र चिन्हसे सुशोभित हैं। इस प्रकार मूर्ति पैरोंसे सात गुनी के लगभग बड़ी है। मूर्तिके बीचों-बीच सामने चट्टानका एक अंश बिना कटा ही छोड़ दिया गया है। इसलिये समग्र मूर्तिको देखना कठिन है। यहांसे थोड़ा आगे चलकर पश्चिमकी तरफ नेमिनाथ भगवान्की एक दूसरी विशालमूर्ति है। नेमिनाथ जैनियोंमें बाइसवें तीर्थङ्कर थे। आदिनाथकी मूर्तिकी भांति यह मूर्ति भी खड़ी हुई है। परन्तु अन्य जो मूर्तियाँ हैं वे समासीन अवस्थामें हैं, और देखनेमें बहुत कुछ भगवान् बुद्धकी मूर्तिसे मिलती-जुलती हैं। वास्तवमें साधारण दर्शकके लिये भगवान् बुद्ध और महावीरकी मूर्ति में किसी प्रकारका विभेद करना बड़ा कठिन है। परन्तु ये मूर्तियां अपने विशेष धार्मिक चिन्होंसे सुशोभित रहती हैं, जिनकी वजहसे इन्हें पहचानना आसान है। ये चिन्ह कई प्रकारके होते हैं। उदाहरणके लिये वृषभ, चक्र, कमल, अश्व, सिंह, बकरी, हिरन आदि। जैनियोंके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् आदिनाथकी मूर्तिके निकट सदैव वृषभ बना रहता है। घाटीकी दाहिनी तरफ और भी कई मूर्तियां हैं। ये अकेली बहुत कम हैं। एक साथ तीन-तीन मूर्तियां हैं। मूर्तियोंके कुछ आगे चट्टानका एक हिस्सा बिना कटा छोड़ दिया है, जिसकी वजहसे एक दीवार-सी बन जाती है। यह शायद पुजारी अथवा भक्त-गणोंके लिये बैठनेका स्थान है।

घाटीके बाहर दक्षिण-पश्चिमकी ओर मूर्तियोंका एक और समूह है। इनमें कुछ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। एक तो शयनावस्थामें एक स्त्री-मूर्ति है, जो करवटसे लेटी है और करीब आठ फीट लम्बी होगी। दोनों जांघें सीधी हैं, परन्तु बाँया पैर दाहिनेके नीचे मुड़ा है। दूसरे स्थान पर तीन मूर्तियां हैं, जिनमें माता-पिताके साथ एक बालक प्रदर्शित किया गया है। ये मूर्तियाँ भगवान् महावीरके माता-पिता त्रिशला और सिद्धार्थकी बतलाई जाती हैं, और

साथमें बालकके रूपमें स्वयं भगवान् हैं।

दक्षिण-पूर्वकी ओर जो मूर्तियाँ हैं उन तक पहुँचना बहुत कठिन है। प्रयत्न करनेपर भी उन्हें हम देख नहीं सके।

इन मूर्तियोंके सम्बन्धमें जो विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहें वे ग्वालियर गजेटियर तथा ग्वालियरके पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकें पढ़ें [हमें स्वयं इन मूर्तियोंके दर्शन करने तथा किलेके अन्य पुराने स्थानों को देखनेमें इन ग्रन्थोंसे बड़ी मदद मिली]

('मधुकर' पाक्षिकसे उद्धृत)

: अमोघ आशा :

[लेखक—व्याकरण रत्न पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

[१]

कभी हमारा था जग अपना,
सुख था, दुखका था नहीं सपना;
दस लक्षण, शुभ लक्षण थे तब,
होती थी न अशुभ दुर्घटना।
जब न रहे वे सुखके दिन तो,
ये दुर्दिन भी टल जायेंगे !
आएँगे वे दिन आएँगे !!

[२]

मिट जायेगा, दर्द-पुराना,
है परिवर्तन-शील ज़माना;
भूलेगा अन्तर, आंखों की—
प्याली से आँसू छलकाना !
निर्मम हो कर छोड़ गये जो—
ममता लेकर घर आएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[३]

निशा-निराशा का मुँह-काला,
नभ से फूटेगा उजियाला;
अरुण ,उषाके कोमल करसे
छलक पड़ेगा जीवन प्याला।
आशाके छींटों में डुब-डुब-
करते तारे छिप जाएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[४]

मंजु सुमन होंगे सहयोगी,
कहीं न कोई पीड़ा होगी;
सत्य - साधनाके साधनसे—
बन जायेंगे भोगी योगी।
एक एक का हाथ पकड़ कर—
दुख - सागरसे तिर जायेंगे !
आएँगें, वे दिन आएँगे !!

[५]

विप्लव, पापाचार घटेंगे;
भीषण अत्याचार हटेंगे !
सच्ची रीति - नीति से जगके,
मिथ्याचार - विहार मिटेंगे,
प्रेम - सुधाकी दो घूँटोंसे—
अमर सदा को हो जाएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[६]

फैलेंगी नव-लता निराली,
थिरक उठेगी डाली-डाली;
संसृति झूम उठेगी सुख में—
तम में हँसती-सी दीवाली !
मंगलमय जग-जंगल होगा,
सुखद-जलद जल बरसाएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[७]

जगति का तृण-दल निखरेगा,
क्षण-प्रतिक्षण मृदुकण बिखरेगा,
मलयानलकी कम्पित झोली—
से मञ्जुल मकरन्द झरेगा।
प्रकृति-सुन्दरी नृत्य करेगी,
वन-विहँग मंगल गायँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[८]

विषम-वासना मिट जाएगी,
साम्य - भावना छा जाएगी;
सदाचारकी सुख-गंगामें—
दुनिया फिर गोते लाएगी।
घुल कर पीड़ा क्रीड़ाओं में—
पाप पुण्यसे धुल जाएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

[९]

मधु होगा, पीने - खाने को,
नन्दन - वन मन बहलानेको,
भूतलसे नभतल तक होगा—
सुन्दर पथ, आने - जानेको।
'सत्य' सखा बन साथ रहेगा—
जब चाहे आएँ - जाएँगे !
आएँगे, वे दिन आएँगे !!

'सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तर लेखकी निःसारता

[लेखक—पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री]

[गत किरणसे आगे]

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

इस प्रकरणमें सयुक्तिक सम्मतिके आक्षेपका उत्तर देते हुए प्रोफेसर जगदीशचंद्रने मेरे व्याकरण-विषयक पाण्डित्यपर हमला करनेकी कोशिश की है और बिना किसी युक्ति-प्रयुक्तिक हेतुके ही मेरे ज्ञान को झटसे व्याकरण-शून्यताकी उपाधि दे डाली है ! मालूम नहीं व्याकरणके किस अजीब कायदेको लेकर उत्तरलेखकने व्याकरण-शून्यताका यह सार्टिफिकट दे डालनेका साहस किया है ! मुझे तो इसमें उत्तर-लेखकके चित्तकी प्रायः क्षुब्ध प्रकृति ही काम करती हुई नजर आरही है।

मैंने लिखा था कि—'उमास्वातिवाचकोपज्ञ-सूत्रभाष्ये' यह पद प्रथमाका द्विवचन है। चूंकि 'भाष्य' शब्द नित्य ही नपुंसकलिंग है, इसलिये 'भाष्ये' पद प्रथमाका द्विवचन है, इस कथनमें व्याकरणकी तो कोई गलती नहीं है। अब रहा इस पदको प्रथमाका द्विवचन लिखनेका मेरा आशय, वह यही है कि उक्त द्वंद्वसमासके अन्तर्गत सूत्र और भाष्य दोनों ही उमास्वातिकृत नहीं हैं किन्तु केवल तत्त्वार्थसूत्र ही उमास्वातिकृत है। यदि भाष्य भी उमास्वातिकृत होता तो सिद्धसेनगणि 'उमास्वाति-वाचकोपज्ञ' इस विशेषणकी भाष्यके साथ भी वाक्यरचना कर देते, परंतु उन्होंने ऐसी रचना नहीं की। इसके लिये यदि ऐसा कहा जाय कि 'द्वंद्वान्ते द्वंद्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते' इस नियम के अनुसार द्वंद्वान्तर्गत विशेषण प्रत्येक विधेय (विशेष्य) के साथ लग सकता है, तो इसका उत्तर यह है कि यह बात असंदिग्ध अवस्था की है, जिस जगह संदिग्धतारूप विवादस्थ विषय हो वहाँ यह उपर्युक्त व्याकरणका नियम लागू नहीं होता। यहांका विषय संदिग्ध होनेके कारण विवादस्थ है; क्योंकि सिद्धसेनगणीकी टीकाके अध्याय-परिसमाप्ति-वाक्यों में सिर्फ सप्तम अध्यायको छोड़कर और किसी भी अध्यायके अन्तमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' ऐसा वाक्य नहीं है। ऐसी हालतमें कहा जा सकता है कि यह वाक्य खास सिद्धसेनगणीका न होकर किसी दूसरेकी कृति हो जो तत्त्वार्थसूत्रको तो उमा-स्वातिका मानता हो परंतु भाष्यको उमास्वातिका नहीं मानता हो। प्रतिलेखक भी संधिवाक्योंके लिखनेमें बहुत कुछ निरंकुश पाये जाते हैं, इसीसे ग्रंथकी सब प्रतियोंमें संधिवाक्य। एक ही रूप से देखनेमें नहीं आते। अथवा उस कृतिको यदि सिद्धसेनगणीकी ही मान लिया जाय तो सिद्धसेन गणीके हृदयकी संदिग्धता उसके निर्माणमें अवश्य संभवित हो सकती है। यदि सिद्धसेनगणी इस विषयमें (सूत्र और भाष्यके एककर्तृत्व विषयमें) सर्वदा अथवा सर्वथा असंदिग्ध रहते तो वे 'उमा-स्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रभाष्ये' ऐसा स्पष्ट लिखते अथवा

सूत्र और भाष्य दोनोंके साथ जुदा जुदा उमास्वाति-वाचकोपज्ञ जैसा विशेषण लगा देते; परंतु ऐसा कुछ भी किया नहीं अतः वह पद सप्तमीका एकवचन नहीं है और न उससे एककर्तृता ही सिद्ध होती है।

अब देखना यह है कि सिद्धसेनगणी इस विषय में संदिग्ध क्योंकर हैं। सिद्धसेनकी टीकाको यदि गहराईके साथ अवलोकन किया जाता है तो उससे यह पता चलता है कि उन्होंने हरिभद्रसूरि जैसे अपने कुछ पूर्ववर्ती विद्वानोंके कथनपरसे यह ग़लत धारणा तो करली कि भाष्य और तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं परन्तु वैसी धारणाको सुदृढ रखने के लिये कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न होनेसे वे उस विषयमें बराबर शंकाशील अथवा संदिग्ध रहे हैं—भले ही आम्नायवश वे दोनोंकी एकताका कुछ प्रतिपादन भी करते रहे हों। उनकी इस स्थितिका प्रधान कारण एक तो यह जान पड़ता है कि भाष्यके साथमें जो ३१ संबंध-कारिकाएँ हैं उनमें—२२ वीं और ३१ वीं कारिकाओंमें—'वक्ष्यामि' (वक्ष्यामि शिष्यहितमिममित्यादि) 'प्रवक्ष्यामि' (मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि) जैसे एकवचनान्त प्रयोग पाये जाते हैं; जबकि भाष्यमें सब जगह 'उपदेक्ष्यामः' ('विस्तरेणोपदेक्ष्यामः' सि० टी० पृ० २५, ४१) और 'वक्ष्यामः' ('पुरस्ताद्वक्ष्यामः' 'मनःपर्ययज्ञानं वक्ष्यामः' सि० टी० पृ० ७६, १००) जैसे बहुवचनान्त क्रिया पद ही नजर आते हैं और ऐसे स्थल भाष्यमें १३ हैं। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सम्बंध कारिकाओंके और भाष्यके कर्ता जुदे जुदे हैं। सम्बंध कारिकाओं के कर्ता एक व्यक्ति शायद उमास्वाति हैं और भाष्यके कर्ता कोई दूसरे—संभवतः अनेक हैं।

दूसरा कारण यह मालूम होता है कि भाष्यकारने, अपने भाष्यमें, अनेक स्थलोंपर ऐसे वाक्य लिखे हैं जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि भाष्यकर्तासे सूत्र-कर्ता जुदे हैं। यथाः—

'आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह' (पृ० ११७)।

"आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह" (पृ० २०७)।

"बन्धे पुरस्ताद् वक्ष्यति" (पृ० २१०)।

"वक्ष्यति च स्थितौ 'नारकाणां च द्वितीयादिषु' (पृ० २२८)

"उत्तरस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह" (द्वि० खं० पृ० ३९)

"सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरमित्यभ्यन्तरमाह" (द्वि० खं० पृ० २४९)

इन वाक्योंमें प्रयुक्त हुए प्रथमपुरुषके एकवचनात्मक क्रियाके प्रयोग साफ़ सूचित करते हैं कि भाष्यकार, जो अपना उल्लेख उत्तमपुरुषके बहुवचनमें करते आए हैं, अपनेसे सूत्रकारको जुदा प्रगट कर रहे हैं।

मालूम होता है इन दोनों कारणोंसे सिद्धसेनगणी अपनी धारणामें संदिग्ध हुए हैं, परन्तु आम्नाय अथवा हरिभद्रके कथनकी रक्षाके लिये उन्हें निर्हेतुक वाक्य-रचना करके यह कहना पड़ा है कि सूत्रकारसे भाष्यकार अविभक्त है। ऐसे कथनके स्थल सिद्धसेन गणीकी टीकामें दो जगह नजर आरहे हैं। एक स्थल तो प्रथम अध्यायके ११ वें सूत्रके भाष्यमें प्रयुक्त हुई 'शास्ति' क्रिया से सम्बन्ध रखता है। इस क्रिया का स्पष्ट आशय वहां यह है कि सूत्रकार शिक्षा (उपदेश) देता है। इसी 'शास्ति' क्रियासे संदिग्ध होकर सिद्धसेनगणी आम्नायक-थनकी रक्षार्थ अपनी टीकामें लिखते हैं—

"शास्तीति च ग्रंथकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह—शास्तीति, सूत्रकार इति शेषः। अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेद इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायोऽन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति।"

अर्थात्—ग्रंथकार ही अपने आत्माको सूत्रकार और भाष्यकारके आकारसे दो भागोंमें विभाजित करके ऐसा कहता है। 'शास्ति' क्रियापदके साथमें 'सूत्रकारः' पद 'इति शेषः' (अध्याहृत) के रूपमें है। अथवा पर्यायके भेदसे पर्यायीका भेद होनेके कारण सूत्रकार पर्याय अन्य है और भाष्यकार पर्याय अन्य है। अतः 'शास्ति' क्रियाका कर्ता सूत्रपर्याय है।

दूसरा स्थल द्वितीय अध्यायके ४५ वें सूत्रके भाष्यमें प्रयुक्त हुए 'कार्माणमाह' इस वाक्यसे संबंध रखता है, जिसकी टीकामें सिद्धसेनगणी लिखते हैं—

"सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति, व्युच्छित्तिनयसमाश्रयणात्।"

अर्थात्—भाष्यकार सूत्रकारसे अभिन्न होता हुआ भी अपनेको भिन्न प्रकट कर रहा है, यह पर्यायार्थिकनयके आश्रयको लिये हुए कथन है।

इन दोनों स्थलोंपर उत्पन्न होनेवाली सन्देहकी रेखा और खींचातानी द्वारा उसके परिमार्जनकी चेष्टा स्पष्ट है। इनमेंसे पिछले स्थलके 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारः' इस वाक्यखण्डको उद्धृत करके उत्तरलेखक (प्रो० सा०) ने अपने कथनकी बड़ी भारी प्रामाणिकता बतलाई है और ऐसा भाव व्यक्त किया है कि मैं जो कुछ लिख रहा हूं वह अखंड्य है! यह देखकर मुझे बड़ा अफ़सोस होता है कि ऐसे शब्दमात्रप्रेक्षी लेखक कैसे कैसे निंद्य धोखेमें स्वतः फँसकर दूसरोंको भी फँसाते हैं! सिद्धसेनगणीकी उक्त दोनों स्थलोंकी पंक्तियाँ व्यर्थकी खींचातानीको लिये हुए निर्हेतुक होनेसे यह कैसे समझा जाय कि भाष्यकार और सूत्रकार एक हैं? मालूम होता है सिद्धसेनगणीने दोनोंको एक बतलानेका जो यह प्रयास किया है वह केवल आम्नायकी रक्षार्थ लोक-दिखाऊ किया है; क्योंकि यदि उनकी सर्वथा वैसी ही भावना होती तो वे सूत्रकारको 'सूरि' और भाष्यकारको 'भाष्यकार' उल्लेखित करके जुदा जुदा प्रकट न करते। जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"इति कश्चिदाशङ्केत, अतस्तन्निवारणायाह भाष्यकारः" (पूर्वार्ध पृ० २५)

"सत्यपि प्रमाणनयनिर्देशसदसदाद्यनेकानुयोगद्वारव्याख्याविकल्पे पुनः पुनस्तत्र तत्रैतद्देव द्वयमुपन्यस्यन् भाष्याभिप्रायमाविष्करोति सूरिः।" (पू०पृ० २९)

"तत्रेदं सूत्रं वाक्यान्तरनिरूपणद्वारेण प्राणायि सूरिणा।" (पू० पृ० ३२)

"सूरिराह—अत्रोच्यते।" (पू० पृ० ४१)

सिद्धसेनगणीकी टीकामें ऐसे अनेक स्थल हैं जो खासकर 'सूरि' शब्दसे सूत्रकर्ताके वाचक हैं तथा सूत्रकारके लिये 'सूत्रकार' और भाष्यकारके लिये 'भाष्यकार' शब्दके स्पष्ट प्रयोगको लिये हुए हैं। इससे मालूम होता है कि सिद्धसेनगणीकी उक्त मान्यता सन्देहको लिए हुए लोकदिखाऊ थी। ऐसी हालतमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इस पदको सिद्धसेनगणीका मान लेनेपर भी यह कैसे निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उनका अभिप्राय 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषणको भाष्यके साथ लगानेका था? यदि उनको वह विशेषण भाष्यके साथ भी लगाना अभीष्ट होता तो वे उसे सूत्रकी तरह भाष्यके भी साथ लगाकर दो पद अलग अलग दे देते अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे' और 'सूत्रभाष्ये' ऐसे दो पद लिख देते। परंतु इन दोनोंमेंसे एक भी बात

सिद्धसेनगणीने की नहीं, ऐसी हालतमें अर्थात् संदिग्ध अवस्थामें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषण भाष्यके लिये लागू नहीं हो सकता, और इसलिये मैंने 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इस वाक्यको जो प्रथमाका द्विवचन लिखा है वह सर्वथा व्याकरणके कायदेको लिये हुए है। इसको जो 'व्याकरणशून्यता' लिखते हैं वे स्वतः व्याकरणज्ञानसे शून्य जान पड़ते हैं। मैंने सप्तम अध्यायके उस सन्धिवाक्यका अर्थ देते हुए, जिसमें विवादस्थ पदका प्रयोग हुआ है, एक जगह 'उसमें (उनमें)' अर्थ लिखा था, इस पर प्रो० सा० पूछते हैं कि—"उसमें यह अर्थ कहाँ से आगया ?" इसका समाधान इतना ही है कि यदि कोई संस्कृतका अच्छा जानकार होता तो वैसा अर्थ स्वयमेव कर लेता। परन्तु आपकी समझमें वह अर्थ नहीं आया और मुझे मुख्यतया आपको ही समझाना है अतः आप समझिये—संस्कृत या और भी भाषाओंमें जो वाक्य होते हैं वे सब साक्षेप होते हैं। यहाँ प्रकृतमें जो यह वाक्य है कि 'सूत्र और भाष्य हैं' इसमें सूत्र और भाष्य कर्ता हैं, कर्ता हमेशा क्रियाकी अपेक्षा रखता है अतः 'हैं' यह क्रिया अगत्या अध्याहृत है। जब प्रकृतमें 'सूत्र और भाष्य हैं' ऐसा वाक्य सिद्ध होजाता है तो फिर उसके आगे 'भाष्यानुसारिणी टीका है' यह वाक्य विन्यस्त है; तब स्वतः ही दोनों वाक्योंका संबंध मिलानेवाला अर्थात् सापेक्ष वाक्य जो 'उसमें' (उनमें) है वह सम्बंधित होजाता है। अतः यहां भाषापरिज्ञानीको यह शंका नहीं होती कि 'उसमें' या 'उनमें' यह अर्थ कहाँ से आ गया। और इसलिये उक्त शंका निर्मूल है।

इसी प्रकार आगे चलकर आप पूछते हैं कि "उक्त अर्थमें 'भाष्य' शब्द कहाँसे कूद पड़ा ?" इस प्रश्नसे ऐसा मालूम होता है कि आपने यह सयुक्तिक सम्मतिका उल्लेख प्रायः आँख मीचकर लिखा है; क्योंकि 'सूत्रभाष्ये' पदमें जब भाष्य शब्द स्पष्ट दिखाई देरहा है तब उक्त प्रश्नको लिये हुए आपकी उक्त लिखावटको आँख मीचकर लिखी जानेके सिवाय और क्या समझा जा सकता है।

इसी प्रकृत विषयके संबंधमें आपने एक विचित्र बात और भी लिख मारी है, और वह यह है कि "उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' जो उद्देश्य है वह अपने विधेय 'भाष्य' पदके साथ तो अवश्य ही जायगा, चाहे थोड़ी देरके लिये वह 'सूत्र' के साथ न भी जाय" यह आपका वचन वास्तवमें सहास्य व्याकरणशून्यताका सूचक है। अपने इस कथनके समर्थनमें आपने कोई भी हेतु नहीं दिया, निर्हेतुक होनेसे आपका कथन प्रमाण कोटिमें नहीं आ सकता। आश्चर्य है आपके साहस को जो आपने झटसे ऐसा लिख मारा कि जिस विशेष्यसे विशेषण संबद्ध है उसके साथ तो वह न भी जाय और दूरवर्ती विशेष्यके साथ उछलकर संबद्ध होजाय! यह सब आपकी विचित्र कथनी आप सरीखोंके ध्यान-शरीफमें भले ही आए परंतु विज्ञोंके ध्यानसे तो वह सर्वथा बाह्य ही है और उसे कोई महत्त्व नहीं दिया सा सकता।

इसी प्रकरणमें आपने यह भी लिखा है कि "'अर्हत्प्रवचन' शब्द भी नपुंसकलिंग है, फिर उसे भी प्रथमाका द्विवचन क्यों न माना जाय ?" इसका समाधान एक तो यह है कि—'तत्वार्थाधिगमे' पदके अनंतर कदाचित् वह पद (अर्हत्प्रवचने) होता तो मान भी लिया जाता, परंतु यहाँ वैसी वाक्यरचना नहीं है। अतः वैसे अर्थका झटिति अर्थावबोधकत्व न

होनेसे उसे प्रथमाका द्विवचन न मानकर सप्तम्यन्त पद मानना ही उचित है। दूसरे, यदि उसको प्रथमा का द्विवचन मान भी लिया जाय तो वह 'सूत्रभाष्ये' पदका विशेषण होनेसे यह अर्थ होगा कि तत्वार्थसूत्र और भाष्य ही 'अर्हत् प्रवचन' हैं—दूसरे आगमादि ग्रंथ अर्हत्प्रवचन नहीं हैं। आगमादि ग्रंथोंके साथ वह 'अर्हत् प्रवचन' शब्द देखा भी नहीं जाता। अतः ऐसा महान् अनर्थ न हो जाय इसके लिये ही 'तत्वार्थाधिगमे' पदके पूर्व 'अर्हत् प्रवचने' पद विन्यस्त किया गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि वह पद सप्तमीका ही समझा जाय और इस तरह उससे कोई अनर्थ घटित न होजाय।

इसी प्रकरणमें प्रो० साहबने एक बात यह भी पूछी है कि "उस भाष्यका कर्ता कौन है जिस पर ग्रंथकार टीका लिख रहे हैं?" इसका जवाब ऊपर आ चुका है, जिसका आशय यह है कि भाष्यमें कारिकाओंके विपरीत 'वक्ष्यामः' जैसे बहुवचनान्त क्रियापदोंका प्रयोग पाया जाता है, इसलिये भाष्यके कर्ता उमास्वाति न होकर कोई दूसरे ही हैं और वे संभवतः अनेक हैं।

इस प्रकरणमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदको लेकर द्वंद्वसमासगत सप्तमी विभक्ति माननेकी जो आपकी धारणा थी उसका खंडन ऊपर अच्छी तरह किया जा चुका है अर्थात् वह पद वहाँ सप्तमीके रूपमें ठीक बैठता नहीं किंतु प्रथमाका द्विवचन ही ठीक बैठता है। कदाचित् उसे सप्तमीका एक वचन भी माना जाय तब भी वह हो उत्तर उस पक्षमें दिया जा सकता है, क्योंकि समाहारद्वंद्वमें वह सप्तमीका एक वचनान्त माना जा सकेगा तो वहाँ संदिग्ध अवस्थामें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' यह विशेषण दूरवर्ती 'भाष्यका' का विशेषण नहीं हो सकता किंतु निकटवर्ती 'सूत्र' का ही हो सकता है। दूसरे, उस पदको 'सप्तम्यन्त' ही माननेका यदि आग्रह हो तो वह पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके कथनानुसार* षष्ठी तत्पुरुषका ही रूप सबसे प्रथम संभवित है; कारण कि शीघ्र शाब्दबोधकतामें षष्ठीतत्पुरुषकी तरफ सबसे पहले दृष्टि जाती है और तब उस पदका अर्थ यह हो जाता है कि—'उमास्वाति वाचक-विरचित तत्वार्थसूत्रके भाष्यमें'। इस अर्थसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकर्ता तत्वार्थसूत्रकर्तासे जुदे हैं। अतः कहना होगा कि दोनों विभक्तियोंमेंसे कोई भी विभक्ति लीजाय—परंतु प्रो० सा० की एककर्तृत्व की अभीष्ट सिद्धि किसीसे भी नहीं बन सकती।

दूसरे, 'तुष्यतु दुर्जनन्यायसे' यदि यह मान भी लिया जाय कि सिद्धसेन गणी दोनोंका एक कर्तृत्व ही मानते थे' तो वे आपके मतानुसार भले ही मानें, उन के माननेकी कीमत तो तब होती जब कि वे उस विषयमें किसी प्रबल हेतुका स्पष्ट उल्लेख करते; परन्तु उन्होंने वैसा कोई उल्लेख किया नहीं तथा भाष्यकार स्वतः अपनेसे सूत्रकारको जुदा सूचित करते हैं, तो फिर ऐसी दशामें सिद्धसेनगणीकी वैसी मान्यताकी कीमत भी क्या हो सकती है और उससे भाष्यविषयक प्रचलित संदिग्धताका निरसन भी कैसे बन सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

अतः इस दूसरे प्रकरणमें भी उत्तररूपसे जो बातें कही गई हैं उनमें कुछ भी सार नहीं है और न उनके द्वारा भाष्यको 'स्वोपज्ञ' तथा 'अर्हत्प्रवचन' ही सिद्ध किया जा सकता है।

*विशेष ऊहापोहके लिये देखो 'अनेकांत' वर्ष ३ कि० १२ पृ० ७३५ पर परीक्षा नं० ३

(३) वृत्ति

सयुक्तिक सम्मतिमें इस वृत्ति-प्रकरणको लेकर यह लिखा गया था कि 'वृत्ति' शब्दसे राजवार्तिकमें श्वेताम्बर भाष्य नहीं लिया है किन्तु पं० जुगलकिशोर जीने जो शिलालेखादिके आधारसे बात मानी है वह ठीक है। उसके लिये मैंने जो हेतु दिये थे उनमेंसे एक 'वृत्ति' के अर्थ-द्वारा उस विषयके संगत मार्गको बतलाने रूप था, उसके खंडनका उत्तर लेखकने जो प्रयास किया है वह अविचारित होनेसे बेपायेका जान पड़ता है। कारण कि राजवार्तिकमें 'वृत्ति' शब्दको लेकर षड्द्रव्यके अभावकी शंका की है, वहां 'वृत्ति' शब्दसे अकलंकने श्वेताम्बर भाष्यको ग्रहण नहीं किया है। इसमें एक हेतु तो यह है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें उस भाष्यकी पहले तो 'वृत्ति' शब्दसे प्रख्याति ही नहीं है। दूसरे, वृत्ति और भाष्य एक अर्थके वाचक हैं, इस लिये कदाचित् श्वेताम्बर सम्प्रदायके किसी आचार्यने उसको 'वृत्ति' भी लिख दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं; तथापि राजवार्तिकके पंचमाध्यायके उस प्रकरणमें श्वेताम्बर भाष्यका कुछ भी सम्बंध नहीं है। राजवार्तिकमें अकलंकदेवने यदि श्वेताम्बर भाष्यके सम्बंधको लेकर द्रव्योंके पंचत्व-विषयकी शंका उठाई होती तो उसका समाधान भाष्य के ही किसी वाक्यसे वे करते परंतु उन्होंने वैसा न करके उसका समाधान दिगम्बर सूत्रसे किया है, इस से स्पष्ट है कि वह शंका दिगम्बर सूत्रकी रचना पर है। कारण कि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्र तक तथा आगे भी बहुत दूर तक सूत्ररचना या सूत्रानुपूर्वीमें पांच द्रव्योंका ही कथन-आया है—छहद्रव्यों का कथन नहीं आया है।

'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रकी वार्तिक नंबर ३ में 'अवस्थितानि' शब्दकी व्याख्याके सम्बन्ध से द्रव्योंकी इयत्ताका प्रमाण छह है इस प्रकारका वर्णन आया है। उसीको लेकर शंकाकारकी शंका है कि—'वार्तिके वा वार्तिकभाष्ये भवता उक्तानि धर्मादीनि षड् द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरन्ति' इस प्रकार राजवार्तिकके भाष्यगत शंकाका विस्तारसे स्पष्टीकरण है, जिसको कि मैंने संक्षेपसे वार्तिकके शब्दोंका पृथक २ शब्दार्थकरके वार्तिकके भाष्यका अभिप्राय 'सयुक्तिक सम्मति' में लिखा था। उसका उत्तरलेखकने मेरे पाण्डित्यका नमूना, तोड़-मरोड़ कर दूषित अर्थ करना तथा अकलंकदेवके भाष्यसे अपना अलग भाष्यरचना आदि बतलाया है और इस प्रकार बिना विचारे कितना ही अनाप-सनाप लिख मारा है! यदि मेरे उस अर्थमें भाष्यके अभिप्रायसे कोई असंगतता बतलाई होती तब तो उत्तर लेखकका यह सब लिखना भी वाजिब समझा जाता; परंतु जो आंख मीचकर लिखे उसका क्या इलाज? अस्तु, मैंने वार्तिकका 'वृत्तौ तु पंच अवचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघातः' ऐसा पदच्छेद कर के जो यह हिंन्दी अर्थ किया था कि—'वृत्तिमें (सूत्र रचनामें) तो पांच हैं, अवचन होनेसे (छहद्रव्यका कथन न होनेसे) छह द्रव्योंके कथनका व्याघात है अर्थात् छह द्रव्योंका कथन बन नहीं सकता' इस अर्थमें वार्तिक भाष्यके अभिप्रायसे क्या फर्क आता है उसे विद्वान् पाठक मिलान कर संगत और असंगतका विचार करेंगे ऐसी दृढ़ आशा है।

यहां इसी प्रकरणमें प्रो० साहब लिखते हैं कि "'पंचत्ववचनात्' शब्दका अर्थ खींचतान कर यदि 'पंचतु अवचनात्' किया भी जाय तो उसका केवल

इतना ही अर्थ हो सकता है कि पांचका तो कथन नहीं किया"। इस वाक्यमें आपने व्याकरण ज्ञान-शून्यताकी एक बड़ीही भद्दी मिसाल उपस्थित की है; क्योंकि 'पंचत्ववचनात' का अर्थ जो 'पांचका तो कथन नहीं किया' ऐसा किया गया है वह व्याकरण के कायदेसे सर्वथा अशुद्ध है। व्याकरणमें 'पंच' यह प्रथमाका बहुवचन है, षष्ठीका रूप नहीं है, अतः 'पंच' इस प्रथमान्तका जो अर्थ 'पांचका' किया गया है वह हो नहीं सकता। जब उस वाक्यका उक्त अर्थ व्याकरणके कायदेसे सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है तब फिर जो अर्थ सयुक्तिक सम्मतिमें लिखा गया है वह अकलंकदेवके अभिप्रायको लिये हुए अनुकूल अर्थ है इस कथनमें कुछ भी आपत्ति मालूम नहीं होती। अतः उस परसे अलग भाष्य बनाने आदिकी जो उत्तर लेखकने कल्पना कर डाली है वह सब उसकी व्याकरणज्ञान-शून्यता और अविचारताका ही एक कृत्य जान पड़ती है।

एक स्थानपर प्रोफेसर महाशय उपहासात्मक शब्दोंमें लिखते हैं—"'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' करके तो सचमुच शास्त्री महोदयने कलम तोड़ दी है।" इसके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'वृत्ति' का वैसा संभवित अर्थ करके सचमुच ही सयुक्तिक सम्मतिके लेखकने आप सरीखे युक्तिशून्य लेखके लेखकोंकी तो क़लम ही तोड़ डाली है। क्योंकि उसका खंडनात्मक उत्तर आपकी शक्तिसे बाह्य है।

आपने 'वृत्ति' के अर्थके विषयमें कोषकी जो बात पूछी है वह आपके कोषज्ञानकी अजानकारीके साथ साथ वाक्यार्थोंके सम्बन्धकी भी अजानकारी को सूचित करती है। और कोषकी बातमें जो ऐसे एकाक्षरी कोषका पता पूछा गया है जिसमें 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' दिया हो, वह तो और भी उपहासजनक है, क्योंकि 'वृत्ति' शब्दका अर्थ एकाक्षरी कोष का विषय नहीं है किंतु अनेकाक्षरी कोषका विषय है। मालूम नहीं जब 'वृत्ति' शब्द साफ़ द्वयक्षरी (अनेकाक्षरी) है तब उसके अर्थके लिये एकाक्षरी कोषका पता पूछनेकी निराली सूझ कहाँसे उत्पन्न हो गई! इसे देखकर तो बड़ा ही आश्चर्य होता है! क्या इसी का नाम सावधानी है? और इसी सावधानीके बल-बूतेपर आप विचारक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए हैं? तथा दूसरोंपर निरर्थक कटाक्ष करनेका अपनेको अधिकारी समझते हैं? विचारकी यह पद्धति नहीं और न विचारकोंके लिये ऐसी बातें शोभा देती हैं।

अच्छा, कोषकी बात पूछी उसका जवाब यह है कि—'शब्दस्तोममहानिधि' चौड़ी साइज़के पृ० ३७७ को निकालकर देख लीजिये, उसमें वृत्तिका अर्थ केवल 'रचना' ही नहीं किंतु बारीकीसे देखेंगे तो 'सूत्ररचना' भी मिल जायगी; क्योंकि उस कोषमें रचनाके भेदोंमें एक 'सात्वती' रचनाका भेद भी है, 'सात्वती' की निष्पत्ति 'सत्' शब्दसे वतुप्, अण् और स्त्री प्रत्ययांत् 'ङीप्' प्रत्ययसे हुई है। जिन्हें व्याकरणका विशाल ज्ञान होगा उन्हें 'सात्वती' शब्दका अर्थ 'सौत्री' रचना मालूम पड़ सकता है क्योंकि 'सत्' शब्दका अर्थ 'निष्कर्ष' और 'सार' रूप होता है और सूत्र भी शाब्दिकमर्यादासे पदार्थोंकी (पदोंके अर्थकी) निष्कर्षता-सारताको लिये हुए होते हैं। अतः 'सात्वती' और 'सौत्री' एक अर्थके वाचक हैं। दूसरे 'वृत्ति' शब्दका 'सौत्री रचना' जो अर्थ किया गया है वह केवल कोषबलसे ही नहीं किया गया किंतु उसका प्रकरणसे भी सम्बन्ध मिलता है, इसलिये उसका अर्थ प्रकरणसंबद्ध भी है। कारण कि, राजवार्तिककार पंचत्व-

विषयकी शंकाका समाधान किसी राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि या श्वेताम्बर भाष्य आदिके वाक्योंसे न करके खास उमास्वामी महाराजके सूत्रसे कर रहे हैं। और इसलिये प्रो० सा० का यह लिखना कि "'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' किसी भी हालतमें नहीं हो सकता" निरर्थक जान पड़ता है। हाँ, वह शंका यदि किसी वृत्तिविशेषके विषयकी होती तो अकलंक उस वृत्ति के ही अंशसे उसका समाधान करते। यहाँ शंकाका विषय मौलिक रचनासे सम्बन्ध रखता है अतः उसका समाधान मौलिक रचनापरसे दिया गया है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की जासकती *। अतः राजवार्तिकमें 'वृत्ति' शब्द आजानेसे प्रा० सा० ने अपनी मान्यताके अनुसार जो यह लिख मारा है कि "राजवार्तिकमें 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे वाक्य न किसी सूत्ररचनाके हैं और न अनुपलब्ध शिवकोटिकृत वृत्तिके, बल्कि उक्त वाक्य श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ भाष्यके हैं" उसमें कुछ भी सार नहीं है। उसका निरसन सूत्ररचना-विषयक ऊपरके वक्तव्यसे भले प्रकार होजाता है। रही हालमें अनुपलब्ध शिवकोटि कृतिकी बात, उसका सम्बन्ध शिलालेखसे है, उसकी जब उपलब्धि होगी तब जैसा कुछ उसमें होगा उस समय वैसा निर्णय भी हो जायगा। फिलहालकी उपलब्धिमें तो सूत्ररचना-विषयक संबंध ही अधिक संगत और विद्वद्-ग्राह्य जान पड़ता है। यह नहीं हो सकता कि अकलंक देव शंका तो उठावें श्वेताम्बर भाष्यके आधार पर और उसका समाधान करने बैठें दिगम्बर सूत्रके बल पर! ऐसी असंगतता और असम्बद्धताकी कल्पना राजवार्तिक-जैसी प्रौढ रचनाके विषयमें नहीं की जा सकती। दूसरी बात

* यहाँपर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वयं अकलंकदेवने राजवार्तिकमें अन्यत्र भी 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग 'सूत्ररचना' के अर्थमें किया है; जैसा कि 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' इस सूत्रसम्बंधी छठे वार्तिकके निम्न भाष्यसे साफ़ प्रकट है, जिसमें 'देव' शब्दको अल्पाक्षर और अभ्यर्हित होनेसे सूत्ररचनामें पूर्व प्रयोगके योग्य बतलाया है, और इसलिये यहाँ प्रयुक्त हुए 'वृत्तौ' पदका अर्थ 'सूत्ररचनायां' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता :—

"आगमे हि जीवस्थानादिसदादिष्वनुयोगद्वारेणाऽऽदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता, ततो नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भवितव्यमिति। तन्न किं कारणं उभयलक्षणप्राप्तत्वाद्देवशब्दस्य। देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः।"

यहाँ पर भी यह सब कथन दिगम्बरसूत्रपाठसे सम्बन्ध रखता है—श्वेताम्बर सूत्रपाठ और उसके भाष्यसे नहीं। क्योंकि श्वेताम्बर सूत्रपाठका रूप "तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्" है, जिसमें 'नारक' शब्द पहले हीसे 'देव' शब्द के पूर्व पड़ा हुआ है, और इसलिये वहाँ वह शंका ही उत्पन्न नहीं होती जो "आगमे हि" आदि वाक्योंके द्वारा उठाई गई है और जिसमें यह बतलाकर, कि आगममें जीवस्थानादिके आदेशवचनमें—नारकोंकी ही पहले सत् आदि रूपसे प्ररूपणा की गई है, कहा गया है कि तब सूत्रमें 'नारक' शब्दका 'देव' शब्दसे पहले प्रयोग होना चाहिये। ऐसी हालतमें यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ 'श्वेताम्बर भाष्य' किसी सूरतमें भी नहीं हो सकता। क्या प्रोफेसर जगदीशचंद्रजी, जिन्होंने अपने समीक्षा-लेख (अने० वर्ष ३ पृ० ६२६) में ऐसा दावा किया था कि राजवार्तिकमें प्रयुक्त हुए भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सब शब्दोंका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत श्वे० भाष्य है, यह बतलानेकी कृपा करेंगे कि यहाँ प्रयुक्त हुआ 'वृत्तौ' पद, जो विवादस्थ 'वृत्तौ' पदके समान है, उसका लक्ष्यभूत अथवा वाच्य श्वेताम्बर भाष्य कैसे हो सकता है? और यदि नहीं हो सकता तो अपने उक्त दावेको सत्यानुसन्धानके नाते वापिस लेनेकी हिम्मत करेंगे। साथ ही, यह स्वीकार करेंगे कि अकलंकदेवने स्वयं 'वृत्ति' शब्दको 'सूत्ररचना' के अर्थमें भी प्रयुक्त किया है। —सम्पादक

यह है कि श्वेताम्बर भाष्यमें 'अवस्थितानि च' और 'न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति' इस रूपसे दो वाक्य हैं, जबकि राजवार्तिकमें 'वृत्तावुक्तं' के अनन्तर "अवस्थितानि धर्मादीनि नहि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस रूपमें एक वाक्य दिया है। यदि अकलंकदेव श्वेताम्बर भाष्यके उक्त वाक्योंको उद्धृत करते तो यह नहीं हो सकता था कि वे उन्हें ज्योंके त्यों रूपमें उद्धृत न करते। अतः यह कहना कि "इसी भाष्यसे उठाकर अकलंकदेवने अपने ग्रन्थ में 'उक्तं' कहकर इस वाक्यको दिया है" नितान्त भ्रममूलक है।

यदि 'वृत्ति' शब्दके अर्थोंमेंसे विवरण-भाष्य ही प्रो० सा० को अभीष्ट है तो उसका स्पष्टीकरण सयुक्तिक-सम्मति लेखके ६० वें पृष्ठके टिप्पणसे होजाता है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि राजवार्तिक पत्र १९१ में 'आकाशग्रहणमादौ' इत्यादि ३४ वीं वार्तिक के विवरण अर्थात् भाष्यमें धर्मादिक द्रव्योंको संख्यावाचक 'पांच' शब्दसे निर्देश किया गया है, उसका पाठ राजवार्तिकमें 'स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' इस प्रकार है। अतः कहना होगा कि यहांके पंचत्वको लेकर ही 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रके नं० ३ के वार्तिक और भाष्यमें जो धर्मादि द्रव्योंको छहका निर्देश किया है उसीके ऊपरका शंका-समाधान उक्त सूत्रके वार्तिक नं० ८ और उसके भाष्यमें दिया गया है, जिसमें शंकाके समाधानका विषय राजवार्तिक के पूर्ववर्ती दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्रके 'कालश्च' सूत्रसे संबंध रखता है। अतः यहाँ श्वेताम्बर भाष्यकी वार्ता तो कपूरवत् अथवा 'छूमंतर' की तरहसे उड़ जाती है—उसका इस राजवार्तिकके प्रकरणमें कुछ भी स्थान नहीं है। इतने स्पष्टीकरणके होने पर भी प्रो० सा० के मस्तिष्कमें यदि राजवार्तिकके उस वाक्य-विषयमें श्वेताम्बरभाष्य-विषयक ही मान्यता है तो कहना होगा कि वह मान्यता आग्रहकी चरमसीमाको भी उल्लंघन करना चाहती है। क्योंकि अभी तक किसी भी पुष्ट प्रमाण-द्वारा यह निश्चय भी नहीं हो पाया है कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्यका समय अकलंकसे पूर्वका है। हो सकता है कि प्रस्तुत श्वेताम्बर भाष्यकी रचना राजवार्तिकके बाद हुई हो और उसमें वह पंचत्व विषयक वाक्य राजवार्तिकसे कुछ परिवर्तन करके ले लिया गया हो, और यह भी संभव है कि दोनों ग्रंथोंमें उक्त वाक्योंकी रचना एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर बिलकुल स्वतंत्र हुई हो।

श्वे०सूत्रपाठका 'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां' ऐसा सूत्र है, उसके 'यथोक्तनिमित्तः' पदका श्वे० भाष्यमें 'क्षयोपशमनिमित्तः' अर्थ किया गया है, परन्तु उस पदका वैसा अर्थ हो नहीं सकता। इससे पता चलता है कि यह अर्थ दिगम्बरीय सूत्र या उस के भाष्योंसे लिया गया है। इस प्रकार सूत्र और भाष्यके जुदे जुदे पाठ होनेसे दोनोंके एक कर्तृत्वकाभी विघटन हो जाता है। श्वे०भाष्य और सूत्रके एककर्ता नहीं हैं, इस विषयके बहुतसे पुष्ट प्रमाण पिछले 'अर्हत् प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम' नामक प्रकरण नं० २ में दिये जा चुके हैं, जिनसे पाठकगण अच्छी तरह जान सकते हैं कि श्वे० सम्प्रदायमें सूत्र और भाष्यकी एकताका जो ज्ञान है वह कितना भ्रमात्मक है। मेरी समझमें ऐसे आन्तरङ्गिक विषयोंका ज्ञान केवल चर्म चक्षुके द्वारा देखे गये शाब्दिक कलेवरसे नहीं हो सकता; किंतु उसके लिये अंतरंग प्रकरणकी संबद्धता-असंबद्धताका विवेक भी आवश्यक है, जो गहरे अध्ययन तथा मननसे सम्बन्ध रखता है। यहाँ

राजवार्तिकके 'पंचत्व' 'अवस्थितानि' आदि शब्द भाष्यमें देखकर विना विचारे कह देना कि 'ये शब्द भाष्यके हैं अतः राजवार्तिकके सन्मुख भाष्य था' केवल चर्मचक्षुकी दृष्टिके सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? यदि यहाँपर आन्तरंगिक दृष्टिसे विचार किया गया होता तो स्पष्ट मालूम पड़ जाता कि इन का संबंध मुख्यतया सौत्रीय रचनासे अथवा राजवार्तिक भाष्यसे है; क्योंकि शंकाके समाधानका हेतु, इस स्थलमें, दिगम्बरीय सूत्रपाठ है—श्वेताम्बरीय भाष्यका कोई अंश नहीं है । और इसलिये प्रो० सा० का यह लिखना कि "इस ('वृत्ति' शब्द) का वाच्य कोई ग्रन्थविशेष है और वह ग्रंथ उमास्वातिकृत (प्रस्तुत श्वेताम्बर) भाष्य है ।" किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता ।

आगे चलकर प्रो० सा० ज़ोरके साथ दूसरोंको यह माननेकी प्रेरणा करते हुए कि 'अकलंककी उक्त शंका श्वे० भाष्यको लेकर है' उस शंकाके समाधान सम्बन्धमें लिखते हैं—

"अब यदि इस शंकाका समाधान अकलंक स्वयं भाष्यगत 'कालश्चेत्येके' सूत्रसे करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अकलंक, दिगम्बराम्नायके प्रतिकूल होने पर भी, भाष्यको सूत्ररूपसे स्वीकार कर लेते हैं तथा सर्वार्थसिद्धिगत दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' ही है, जिसको सामने रखकर वे अपना वार्तिक लिख रहे हैं । ऐसी हालतमें 'कालश्च' सूत्र ही प्रमाणरूपसे देकर शंकाका परिहार किया जाना उचित था, जो अकलंक ने किया है ।"

प्रो० सा० की इस विचित्र लिखावटको देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है ! प्रथम तो "भाष्यको सूत्ररूपसे स्वीकार कर लेते हैं" इस कथनमें आपके वचनकी जो विशृंखलता है वह भाष्य और सूत्रके जुदा जुदा होनेसे ही स्वतः प्रतीतिमें आजाती है । दूसरे, किसी आम्नायका कोई व्यक्ति अपने शास्त्रके सम्बन्धमें यदि शंका करे और उसका समाधान उसी के शास्त्रवाक्यसे कर दिया जाय तो इससे समाधान करने वाला उस शास्त्रका मानने वाला अथवा उसे अपनी आम्नायका शास्त्र स्वीकार करने वाला क्यों कर होजाता है, यह कुछ भी बतलाया नहीं गया । तीसरे, श्वे० भाष्य-सम्बन्धी शंकाका समाधान श्वे० भाष्य अथवा श्वे० सूत्र पाठसे न करके दिगम्बर सूत्र पाठसे करनेमें कौनसा औचित्य है, इसे ज़रा भी प्रकट नहीं किया गया । चौथे, यह दर्शाया नहीं गया कि अकलंकने कब, कहाँ पर तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर भाष्यकी एककर्तृताको स्वीकार किया है । ऐसी हालत में प्रो० सा० का उक्त सारा कथन प्रलापमात्र अथवा बच्चोंको बहकाने जैसा मालूम होता है और स्पष्टतया कदाग्रहको लिये हुए जान पड़ता है । समाधान वाक्य में दिगम्बरसूत्रका प्रयोग होनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि शंकाका सम्बन्ध दिगम्बर सूत्ररचनासे है—श्वेताम्बरसे नहीं । श्वेताम्बर से होता तो समाधानमें 'कालश्चेत्येके' सूत्र उपन्यस्त किया जाता, जिससे श्वे० भाष्यविषयक शंकाका समाधान बन सकता । और इसलिये 'वृत्ति' शब्दका वाच्य वहाँ श्वेताम्बर भाष्य न होकर दिगम्बर सूत्ररचना है, जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है ।

एक जगह प्रो० सा० ने लिखा है कि—"प्रस्तुत प्रकरणमें खंडन-मंडनका कोई भी विषय नहीं है ।" यह लिखना आपका प्रत्यक्ष विरुद्ध है; क्योंकि 'अवस्थितानि' पदका 'धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि' भाष्य किया गया है । उसका खंडन वादीके द्वारा किया गया और फिर उसका समाधान 'कालश्च' सूत्रके आधार पर किया गया । यह सब खंडन-मंडनका विषय नहीं हुआ तो और क्या हुआ ? इसका असली मतलब खंडन-मंडन ही है; क्योंकि शंका और समाधान तथा खंडन और मंडनमें अपने अपने पक्षकी सिद्धिके निमित्त हेतुओंको उपन्यस्त करना पड़ता है । अतः शंका-समाधान रूपसे खंडन-मंडनका विषय है ही । इतनी मोटी बात भी यदि समझमें नहीं आती तो फिर किस बूते पर विचारका आयोजन किया जाता है ?

एक स्थान पर प्रो० सा० ने यह प्रश्न किया है कि "अकलंकने नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रमें ही द्रव्यपंचत्व-विषयक शंका क्यों उठाई ?" इत्यादि ।

इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि अन्यत्र शंका उठानेका स्थान उपयुक्त न होनेसे दूसरी जगह शंका नहीं उठाई। यहां 'अवस्थितानि' सूत्रके प्रकरणमें द्रव्योंके छह पनेका कथन आया और ऊपर सूत्रानुपूर्वी रचनामें तथा राजवार्तिक भाष्यमें द्रव्योंके पंचत्व का कथन आया; अतः यहाँ शंकाका अवकाश होनेसे शंका उठाई गई, दूसी जगह वैसी शंकाका स्थान उपयुक्त न होनेसे नहीं उठाई गई। 'जीवाश्च' आदि सूत्र वैसी शंकाके उपयुक्त स्थान तो तब कहे जाते जब उनमें वैसा प्रसंग आता। वैसे प्रसंगके लानेका कार्य मेरे-आपके हाथकी बात तो है नहीं, ग्रन्थकर्ताको जिस जगह जैसा उपयुक्त जँचा वहाँ वैसा प्रकरण ले आए।

अन्तमें प्रो० सा० लिखते हैं कि—"पूर्व लेखमें बताया जा चुका है कि द्रव्य पंचत्वकी शंका दिगम्बरों के यहाँ इसलिये नहीं बन सकती कि उनके यहाँ तो निश्चित रूपसे छः द्रव्य माने गये हैं, जबकि श्वे० उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें भी 'पंचद्रव्य' और 'षट्द्रव्य' की आगमगत दोनों मान्यताएँ मौजूद हैं।" परन्तु यह लिखते हुए वे इस बातको भुला देते हैं कि उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उमास्वाति कालसहित छहों द्रव्य मानते हैं और अपने पिछले लेखाङ्क नं० ३ में 'सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्' इस भाष्य-वाक्यके द्वारा उस मान्यताकी पुष्टि भी की है; तब वह पंचत्व की शंका भाष्यके ऊपर भी कैसे बन सकती है? समान मान्यताके होने पर एक स्थल पर उस शंकाका बन सकना और दूसरे पर न बन सकना बतलाना कथनके पूर्वापरविरोधको सूचित करता है। इसके सिवाय, मैंने 'सयुक्तिक सम्मति' नामके अपने पूर्व लेख (अनेकान्त पृ० ८९, ९०) में दिगम्बरसूत्र पाठके सम्बन्धमें इस शंका-समाधानके बन सकनेका जो स्पष्टीकरण किया था तथा औचित्य बतलाया था उस पर भी आपने कोई ध्यान नहीं दिया। और न यही सोचा कि एक ग्रन्थकार जो अपने मत या आम्नाय को लेकर ग्रन्थकी रचना कर रहा है वह दूसरे मत अथवा आम्नाय वालोंकी खुद उन्हींके मत, आम्नाय अथवा ग्रन्थ पर की गई शंकाकी संगति बिठलाता हुआ समाधान अपने ग्रन्थमें क्यों करेगा?—उसे उसकी क्या जरूरत पड़ी है? ऐसी हालतमें आपका उक्त लिखना कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

ऊपरके इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि राजवार्तिकका उक्त शंका-समाधान सूत्ररचना तथा राजवार्तिकके भाष्यसे सम्बन्ध रखता है, उसमें श्वे० भाष्यका जो स्वप्न देखा जाता है, वह ग्रन्थको सम्बद्ध रूपसे लगानेकी अजानकारी ही प्रकट करता है, और इसलिये इस तीसरे प्रकरणमें प्रोफे० साहबने उत्तरका जो प्रयत्न किया है उसमें भी कुछ दम और सार नहीं है। (क्रमशः)

संशोधन

गत किरणमें 'महाकवि पुष्पदन्त' नामका लेख कुछ अशुद्ध छप गया है। मात्रादिकके टूट जानेसे जो साधारण अशुद्धियां हुई हैं, उन्हें छोड़ कर शेष कुछ महत्वकी अशुद्धियोंका संशोधन नीचे दिया जाता है। पाठकगण इसके अनुसार अपनी अपनी प्रतिमें सुधार कर लेवें:—

पृ०	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०८	१	१८	रोहिणीखेड	रोहनखेड
४०९	२	९	काव्य	कव्व
४१०	१	१८	करिसवहि	करिसरवहि
४११	१	२८	सरक्र	सरस्वती
४१२	२	४	कुरूप	शुद्धकुरूप
४१३	१	२२	मयि	मयँ
,,	१	२३	कइवयादियसहं	कइवयदियहइं
,,	१	२६,२७	सुहयउ	सुहयरु
४१४	१	३	भरता	भरहा
४१५	२	२३	सबसे	सबसे अधिक
४१६	१	३	कुन्दका	कुन्दव्वा
४१६	२	२१	गुणैर्भासिते	गुणैर्भासितो
४१६	२	२५	श्यामः प्रधानः	श्यामप्रधानः
४१७	१	३५	धनधवलताश्चया	धनधवलताश्रया
४२०	२	३२	सहासता	सहायता

—प्रकाशक

जिन-दर्शन-स्तोत्र‡

[पं० हीरालाल पांडे, सागर]

[१]

आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु—
अक्षय - अतुलित निधि - दातार !
नेत्र सफल हो गये दर्शसे—
पाया है आनन्द अपार !!

[२]

आज पंच - परिवर्तनमय यह—
अति दुस्तर भव - पारावार !
सुतर हुआ दर्शन से तेरे,
भटका हूं जिस में बहुबार !!

[३]

आज नहाया धर्म - तीर्थमें—
तेरा दर्शन पा साकार !
गात्र पवित्र हुआ नयनों में,
छाया निर्मल तेज अपार !!

[४]

आज हुआ यह जन्म सार्थक,
सकल मंगलों का आधार !
तेरे दर्शन के प्रभाव से,
पहुँचा मैं जग के उस पार !!

[५]

आज कषाय-सहित कर्माष्टक—
ज्वालाएँ विघटीं दुखकार !
दुर्गति से निवृत्त हुआ मैं—
तेरे दर्शन के आधार !!

[६]

आज हुए हैं सौम्य सभी ग्रह,
शान्त हुए मन के संताप !
विघ्न-जाल नश गये अचानक,
तेरे दर्शन के सुप्रताप !!

[७]

आज महाबन्धन कर्मों का—
बन्द हुआ, दुख का दातार !
सौख्य-समागम मिला जिनेश्वर !
तव दर्शन से अपरम्पार !!

[८]

आज हुआ है ज्ञान-भानु का,
उदय देह-मन्दिर में सार।
तव दर्शन से हे जिनेन्द्रवर !
मिथ्या तम का नाशनहार !!

[९]

आज हुआ हूं पुण्यवान् मैं,
दूर हुए सब पापाचार।
मान्य बना हूं जग में स्वामिन् !
तेरा दर्शन पा अविकार !!

[१०]

आज हुई जिन - दर्शन - महिमा,
अवगत मुझ को हे भगवान् !
सत्पथ साफ़ दिखाई पड़ता,
खड़ा सामने है कल्याण !!

‡ 'अद्याष्टक' स्तोत्र का भावानुवाद

तपोभूमि

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

आग के लिए ईंधन और व्यसन के लिए पैसा, ज्यादह होने पर भी ज्यादह नहीं। इसलिए कि इन दोनोंके पास 'तृप्ति' नहीं होती! इनके पास होती है वैसी भूख, जो खाते-खाते और भी जोर पकड़ती है!

मथुराके प्रसिद्ध धनकुबेर—भानु जब वैराग्यको प्राप्त हुए, तब अपने पीछे पुत्रोंके लिए एक बड़ी रक़म छोड़ गए। लोगोंने अन्दाज़ लगाया—बारह करोड़! बारह करोड़की पूंजी एक बड़ी चीज़ है। लेकिन व्यसन ने साबित कर दिखाया कि उसकी नज़रों में बारह करोड़की रक़मका उतना ही महत्त्व है, जितना हमारे-आपके लिए बारह रुपये का। उसे बारह अरब की सम्पत्ति भी 'तृप्ति' दे सकेगी, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता!

आखिर वही हुआ! घरमें मुट्ठी-भर अन्न और जेबमें फूटी-कौड़ी भी जब नहीं रही तब सातों सहोदरोंने चोरी करना विचारा। व्यसनकी कालोंचने मन जो काले कर दिए थे, इससे अच्छा, सुन्दर व्यवसाय और निगाहमें भर ही कौन सकता था? बे-[illegible] रोजगार जो ठहरा, ललचा गया मन! जोखिम भी जरूर; पर, बड़ी रक़मकी प्राप्तिका आकर्षण जो साथमें नत्थी था—उसके! और पुण्य-पाप की कमजोरियोंसे तो मन पहले ही जुदा होचुका था!

भानु सेठके वैराग्य लाभ, या गृहत्यागका कारण भी यही था! उन्हें किसी चतुर, अनुभवी ज्योतिषीने बतला दिया था कि तुम्हारे सातों पुत्र व्यसनी होंगे, फिर परिश्रमोपार्जित अतुल सम्पत्ति खोकर, चोरी करनेमें चित्त देंगे!'

उन्हें यह सब, कब बर्दाश्त हो सकता था, कि उनके पुत्र दुराचारी, चोर और नंगे-भूखे कहाकर उन्हीं लोगोंके सामने आएँ, जो आज आज्ञाके इन्तज़ारमें हाथ बाँधे खड़े रहते, या नजरसे नज़र मिलाकर उनसे बात नहीं कर सकते!

प्रारम्भमें बच्चोंके सुधारका प्रयत्न किया! प्रयत्न में डाट-फटकार, मार-पीट, प्यार-दुलार और लोभ-लालच सब कुछ इस्तैमाल किया! लेकिन सफलताके नामपर इतना भी न हो सका—जितनी कि उड़द पर सफ़ेदी! आखिर हारकर, आत्म-कल्याणकी ओर उन्हें झुकना पड़ा। मानसिक पीड़ाने मन जो पका दिया था!

बड़ेका नाम था—सुभानु। और सबसे छोटेका—सूरसेन। विवाह सातोंके होचुके थे।...

कुछ दिन खूब चैनकी गुज़री! रसीली-तबियत, हाथमें लाख, दो-लाख नहीं, पूरे बारह करोड़की सम्पत्ति! और उसपर खर्चने-खानेकी पूर्ण-स्वतंत्रता! पिताका नुकीला-अंकुश भी सिरपर नहीं रहा था!

और फिर वही हुआ, जो ज्योतिष-शास्त्रने पहले ही कह रक्खा था—यानी—सब चोर।

× × ×

[२]

उज्जैनके जंगलमें पहुँचकर सबने विचारा—

'क्या करना चाहिए ?' देर तक शकुन-अपशकुन आदि आवश्यकीय मसलों पर विचार होता रहा। फिर जो बात निर्णयको पा सकी वह यह कि—छह जने धनकी प्राप्तिके लिए नगर-प्रवेश करें और एक यहीं—जंगलमें ही—लौटने तक प्रतीक्षा करे! परदेश का मामला, क्या जाने, क्यासे क्या हो ? हम सब यहीं विपत्तिके मुंहमें फँस जाँय, और घर तक खबर भी न पहुँचे! वे निरीह सात प्राणी अनाथ होकर, दाने दानेको तरसें; ऐसा मौक़ा ही क्यों दिया जाए ?

और तब बड़ोंने आज्ञा दी—सूरसेनको, कि—'तुम यहीं रहो!' छोटेका ख़याल कर, या उसको अपने कामके अधिक उपयुक्त या अनुभवी न समझ कर, पता नहीं! यों, वह भी यथासाध्य इस भयाच्छादित-धन्धेमें सहयोग देता रहा है! पर, उतनेसे उसके अग्रज सन्तुष्ट हुए या नहीं, यह अबतक वह नहीं जान पाया है! कोई अवसर भी यह सोचनेका नहीं मिला है—उसे!

सुभानुके नेतृत्वमें वह पाँच व्यक्तियोंका जत्था दबे पाँव, बन्द मुँह और जागती या सतर्क-दृष्टिको लिए—नगरकी ओर बढ़ा! दूसरेके धनको 'अपना' बना लेनेके लिए! व्यसनकी 'भूख' को 'तृप्ति' का स्वाद चखानेके लिए या उस महापापकी स्याहीमें डूबनेके लिए, जो अक्सर अन्धेरी रातमें आत्माकी उज्ज्वलताको हनन कर देती है।

सूरसेन उसी निर्जन, भयावने जंगलमें बैठ रहता है—सहोदरोंके आदेशमें बद्ध।

सजग, किन्तु मौन !!!

× × ×

[३]

उज्जैनके महाराज—वृषभध्वज, रानी—कमला! और पुत्रीका नाम था—मंगीकुमारी! मंगी—राजपुत्री थी, दर्प तेज ओज और अधिकार-बल सब-कुछ उसे मिला था! अगर कुछ नहीं मिला था, तो राजपुत्रको 'स्वामी' कहनेका सौभाग्य। उसकी शादी साम्राज्यके एक महारथीके साथ हुई थी। नाम था उसका 'वज्रमुष्टि'।

वज्रमुष्टि—योद्धा था, वीर था, महान् था, लेकिन 'राजकुमार' नहीं था। किसी राज्यका उत्तराधिकार उसके लिए ख़ाली नहीं था। शारीरिक सौन्दर्यमें अगर वह राजपुत्र था, तो आर्थिक-दृष्टिकोण उसका प्रबल शत्रु!

मंगी के शरीर में था—राज-रक्त! और वज्रमुष्टि की माँ के बदन में गुलामी का ख़ून! एक ओर उत्थान था, दूसरी ओर पतन, एक ओर तेज था, दूसरी ओर करुणा, दीनता।

बहू और सासुमें मेल खाता तो कैसे ? यह सही है कि सासु का दर्जा वैसा ही है, जैसा कि बेटे की तुलनामें पिताका, या शिष्यके मुक़ाबिलेमें गुरुका। लेकिन—कब...? तभी न, जब बेटा या शिष्य उसे महसूस करे! और महसूस कोई करता है तब, जब उसे 'बड़ा' माननेमें उसे लज्जा नहीं, सुख मिले या मिले—गौरवमय आनन्द।

पर, मंगी एक क्षणको भी यह आनन्द उपभोग न कर सकी! किसी तरह भी वह यह न सोच सकी कि सिर्फ़ 'बहू' बन जाने-भरसे वह छोटी बन गई राज-पुत्री जो ठहरी।

सासूके साथ उसका व्यवहार वैसा ही रहा, जैसा कि किसी भी बूढ़े-नौकर, बूढ़ी-दासीके साथ सम्भव हो सकता है!

था तो वज्रमुष्टिके साथ भी कुछ कड़ा बर्ताव!

लेकिन ऐसा नहीं, कि ज्यादह कड़ुवा बन सकता ! क्योंकि वह पुरुष था ! पुरुष, सदासे ही नारीका 'प्रभु' रहा है ! और वह रही है हमेशा—गुलाम ! उसकी मिहरबानीकी मुहताज ! साथ ही, पुरुषका मन सदासे नारीके लिए नरम रहा है ! वह उसकी डाट डपट कड़ी-नज़र और चुभती बातोंको भी सुनकर हँसते-हँसते पचा जानेका आदी रहा है ! नारीके आकर्षणने बाँध जो रक्खा है—उसे, और उसकी सारी उग्र शक्तियोंको ! तिसपर वज्रमुष्टिको तो मंगीसे था प्रेम ! उसीके शब्दोंमें—ऐसा कि 'बिना उसके चैन नहीं !' अलावः प्रेमके, गौरव भी कम नहीं था उसे इसे इस बातका, कि उसकी स्त्री महाराज वृषभध्वजकी प्यारी पुत्री और एक उच्च-घरानेकी राजकुमारी है ! वह उसकी प्रसन्नताको अपना अहोभाग्य समझता ! उसी तरह—जिस तरह एक दरिद्र मूल्यवान् वस्तुको पा लेने पर उसे अपनेसे अधिक हिफ़ाजत और सँभालके साथ रखता है ।

पर, सासूके सामने ऐसी कोई बात नहीं थी ! वह बहूकी उद्दण्डता पर नाखुश थी । और असन्तुष्ट थी इस पर कि वह उसे कुछ समझती नहीं । जब कि उसका फर्ज उसको पूजनेका, आदर करनेका है ! भीतर ही भीतर उसके दिन-रात लंका-दहन होता रहता ।

मनमें कसक, पीड़ा लिए, वह इस कष्टसे मुक्ति पानेके उपायमें लगी रहती ! पर, करे क्या···?

× × × ×

उस दिन 'उपाय' सासूके सामने आगया, सफलता या कामयाबीका जामा पहिनकर ! बड़ी खुश हुई वह !

मिठास और दीनता-भरे स्वरमें बोली—'ला तो ! उस घड़ेमें फूल और गजरे रक्खे हैं—लेकर पूजासे ही निवृत्ति हो लूँ तब तक ।'

मिठास और दीनता ! यही दो-बातें तो मंगी चाहा करती थी । और सासु इन दोनोंसे हमेशा जुदा रह कर, स्वामित्व दिखानेकी आदी थी । आज जो यह परिवर्तन देखा तो मंगी—कामके लिए. 'न' न कर सकी ।

गजरा निकालनेके लिए—खुशी-खुशी हाथ घड़ेमें डाल दिया ।···

मिनिट बीता होगा, कि मंगी पछाड़ खाकर ज़मीन पर गिरी । और निकलने लगा मुँहसे, बेतहाशा झाग ।

सासुने देखा—'उसे कुछ न समझने वाली उद्दण्ड छोकरी, बेहोश पड़ी है !'

खुशीसे उसकी आँखें चमक उठीं !

लपक कर उसने घड़ेका मुंह बन्द कर दिया । गुस्सेमें ज़ला भुना साँप जो घड़ेमें कैद था । × ×

वज्रमुष्टि था—बाहर ! महाराजके साथ गया हुआ था—कहीं !

दैवयोग !!!

उसी रात वह लौट आया ! स्त्रीको न देख, उसने पूछा—'माँ ! कहाँ है—वह ?'

माँ अबतक रोनी-सूरत बनाए बैठी थी ! सुनी जो पुत्रकी बात तो गले पर काबू न रख सकी ।

एक बार खुल कर रोनेके बाद हिचकी लेते हुए कहने लगी—'उसे साँपने काट लिया था···!

'साँपने ?'

'हाँ ! आज हीकी तो बात है, सैकड़ों दवाएँ की, पर···।'

'फिर किया क्या ?···'

'लोग उसे श्मशानमें लेगए—वहीं गाड़ कर अभी-अभी तो लौटे हैं। अचानक यह वज्रपात हुआ है—बेटा।'

पर, वज्रमुष्टि हो रहा था मंगीके प्रेममें पागल। दौड़ा उधर ही, जिधर मंगी थी, श्मशान था—बेतहाशा पागलकी तरह।

× × × ×

[४]

अपनेको छिपाए, अपराधीकी तरह चुप—सूरसेनने देखा—देखा मंगीको दफ़नाते हुए भी और और वज्रमुष्टि द्वारा उसके संज्ञा-शून्य-शरीरको बाहर निकालते हुए भी। उसका हृदय रो रहा था, मुंह पर हवाइयाँ उड़ रही रहीं थीं, हाथ काँप रहे थे।

कह रहा था, दिलको हिला देने वाली आवाज में—'मैं तेरे बिना जिन्दा न रह सकूंगा—मंगी! मुझे छोड़ कर कहाँ जा रही है? मैं तुझे अकेला न जाने दूंगा, न जाने दूंगा, हरगिज न जाने दूंगा।'

सूरसेनका हृदय काँप उठा।—कितना अगाध प्रेम है उसे स्त्रीसे?...काश! स्त्री अगर जीवित हो सकती? देख सकती उसके वियोगमें पतिकी कैसी दयनीय-दशा हो रही है। कितनी अटूट-मुहब्बत है उसे, जो खुद मरने तकको तैयार हो बैठा है।'

पर, मंगी अडोल।

मौन॥

मृतप्राय॥।

वज्रमुष्टि देर तक रोता रहा, अपनी जाँघ पर मंगीका सिर रक्खे हुए—क़रीब-क़रीब निरुपाय।

अचानक उसकी नजर जो सामने गई तो भीरू-मनमें कुछ-कुछ आशा संचरित हुई।—

तपोधन, ऋद्धिधारी, परम-दिगम्बर-साधु, ध्यानस्थ विराजे हुए हैं।

वज्रमुष्टिके कम्पित-शरीरमें बल-संचार हुआ—अशरण-शरण जो सहायतार्थ दृष्टिगत हो चुके थे। साधु-चमत्कारकी अनेक गाथाएँ मनमें जागरित हो उठी। और आशाने दिया उन्हें प्रोत्साहन। भक्ति और श्रद्धासे भीगा हुआ वज्रमुष्टि उठा। मंगीको यत्न-पूर्वक गोदमें ले, चला योगीश्वरकी चरण-धूलिमें लिटानेके लिए।

महानींदमें परिणत हो जानेके लिए लालायित मंगीका मूर्छित-शरीर वज्रमुष्टिने गुरु-चरणकी शरण में डाल दिया। और कहने लगा, दीन और दुखे हुए स्वरमें—'भगवन्! तुम्हारी ही शरण है। मेरी प्राण-प्रियाको जीवन-दान देकर मुझे सुखी बनाओ। मेरी व्यथा हरण करो। मैं सहस्र-दल-कमल समर्पण कर, अपनी भक्ति, श्रद्धा और खुशी प्रकट करनेका अवसर पाकर अपनेको धन्य समझूँगा। प्रभो! प्रार्थनाको व्यर्थ न जाने दो। नहीं, मैं मंगीके बिना जीवित न रह सकूँगा। वह मेरी गुणवती, स्नेहशीला, प्राणोपम प्राणेश्वरी है।'

सूरसेन एक टक देखता-भर रहा—चुप। उसके वियोगने मन जानें कैसा कर दिया है।...

× × × ×

मंगीने करवट ली, थोड़ी कराही और फिर उठ बैठी। जैसे उसे कुछ हुआ ही न था, सोकर उठी हो। तपोनिधिकी विषापहरण-ऋद्धिके प्रभावने निर्विष कर उठ-खड़े होनेका मौक़ा दिया। और दी, वज्रमुष्टिको मुंह-मांगी मुराद! सीमान्त-खुशी!! और आनन्द-विभोर कर देने वाली—प्रणय-भिक्षा!!!

दोनों एकमेक। प्रेमालिंगन।
जैसे जीवन और मृत्युका संगम हो।

वज्रमुष्टिके वाष्पाकुलित कण्ठसे निकला—'मंगी-कुमारी !···'

उसने कटीली-आंखोंसे ताकते हुए स्नेह-आर्द्रित स्वरमें कहा—'तुम आगए ?'

× × × ×

[५]

मंगीकी चैतन्यताने सूरसेनको भी कम आनन्दित नहीं किया। यही तो उसकी भी साध थी, कि मंगी पति-प्रेमको समझ सके।···

जंगलकी हरी-हरी घासपर मंगी बैठी पतिकी प्रतीक्षा कर रही थी। वज्रमुष्टि गया था—साधु-अर्चनके लिए, सहस्र-दल-कमल लेने।

मंगी अकेली थी।

सहसा सूरसेनके मनमें आया—'वज्रमुष्टिका प्रेम तो देखा। क्या मंगी भी उसे इतना ही प्यार करती है ? क्या यह वैसी ही है, जैसा कि वज्रमुष्टि समझे हुए है ?'

कौतुकने उसके मनमें जिज्ञासा भर दी। वह बढ़ा, अपने छिपे-स्थानसे शंका-समाधानके लिए। और जा खड़ा हुआ, अलक्षित-भावसे मंगीके समीप।···

मंगीने देखा, और देखते-देखते जैसे वह समा गया उसके हृदयमें ! वह चकित, चंचल और उद्विग्न हो उठी। उठती उम्र, गोरा-लुभावक-शरीर, और सुन्दर बेष भूषा। सोचा—'हो न हो, राजकुमार है कोई ?'

निर्निमेष देखती रही, कुछ देर। मंत्रमुग्धकी तरह।···

सूरसेन अवाक्।

मंगीके भीतर जैसे पीड़ा जाग पड़ी वह दीन-भिखारिनकी तरह देखती रही सूरसेनकी ओर ! पलक मारनेकी सुधि उसे नहीं थी। हृदय, कामके नुकीले-बाणोंसे आहत हो चुका था।

वह जैसे फिर बेहोश होने जारही थी।

और सूरसेन सोच रहा था—'ओफ़ ! वासना—आग ?···छलमय नारी-हृदय।'

कि लाजकी हत्याकर, निर्लज्ज—मंगी पैरों पर गिर पड़ी, और कहने लगी—'प्यारे ! मुझे प्यार करो। मैं तुम्हारे प्रेममें पागल हुई जा रही हूं। मैं तुम्हारे बिना न बचूँगी, तुम्हारे रूपने मुझे बेहोश कर दिया है।'

सूरसेन अडिग।

युवक-तेजसे संयुक्त !

सोचने लगा—'जब परीक्षा ली है तो पूरी ही होनी चाहिए।'

फिर बोला—'मैं भी तुम्हारे ऊपर मोहित हूँ—सुन्दरि ! लेकिन मजबूर हूँ, कि मैं तुम्हें प्रेम नहीं कर सकता।'

'क्यों ???'—मंगीने पूछा।

'इसलिए कि तुम्हारा पति बलवान् है, मैं उसे अपने लिए खतरा समझता हूं, डरता हूं उससे।'

मंगी हँसी। फिर बोली—'उसकी ओरसे तुम बेफ़िक्र रहो। वह तभी तक ज़िन्दा है, जब तक मैं उधर देखती नहीं।'

सूरसेन हट गया।

भक्ति और हर्षसे पूर्ण वज्रमुष्टि पत्र-पुष्प और सहस्र-दल-कमल लेकर आ पहुंचा था।

× × ×

मंगीने पतिके साथ-साथ गुरुपूजन किया, वंदना की, स्तवन पढ़ा। और जब वह पुष्पाँजलि क्षेपण

करनेके बाद गुरुचरणोंमें झुका, कि मंगीने समीप रक्खी तलवार उठा कर चाहा कि गर्दन पर घातक प्रहार करे। कि किसीने पीछेसे कसकर कलाई पकड़ ली। तलवार ऊँची की ऊँची रह गई !

पलट कर देखा तो—सूरसेन !

तलवार उसने छीन कर एक ओर रखदी। और चल दिया, मंगीकी ओर धिक्कारकी नज़रोंसे देखता हुआ !

निर्विकार-साधु ध्यानस्थ थे।

वज्रमुष्टिने बार बार सिर झुकाया, प्रणाम किया और तब, मंगीको ले, समोद घर लौट गया।

× × × ×

[६]

छहों-अनुज सम्पत्ति लेकर वापिस आये, तो सूरसेनको उन्होंने गंभीर, सुस्त और उदास पाया गया। पूछा, तो उसने मंगीकी देखी हुई कथाको दोहरा दिया !

सुभानुको छोड़ कर, सब पर गहरा प्रभाव पड़ा। सोचने लगे सब—'धिक्कार है दुनियाके चरित्रको ! जिस स्त्री-पुत्रके लिए हम रात दिन पाप करते हैं, हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, वह कोई अपना नहीं। सब अपने स्वार्थ और वासनाके दास हैं !'

सुभानुने बातको दफ़नानेके इरादेसे कहा—'छोड़ो झगड़ेको। बाँट होने दो, काफ़ी रक़म हाथ लगी है आज तो ?'

छहोंने मन्शा प्रकट की—

'हमें अब कुछ नहीं चाहिए। न धन-दौलत, न स्वार्थी-संसार ! आत्म-आराधनके लिए तपोभूमिमें प्रवेश करेंगे, ताकि विश्व-बन्धनसे मुक्ति मिल सके।'

छोटोंको, विरागकी ओर बढ़ते हुए भी सुभानुके मनमें आत्म-जागृति न हुई। धन जो सामने पड़ा था !

वह सब सम्पत्ति ले घर चला।

× × × ×

घर आया, तो यहां भी उसे वैसा ही दृश्य देखना पड़ा। सब स्त्रियोंने अपने-अपने पतिकी कुशल पूछी। उत्तरमें सुभानुने सच ही कहा। झूठ बोलनेकी युक्ति उसे सूझी ही नहीं !

कहने लगीं—'जब 'वे' ही नहीं रहे तो हमें ही घरमें रहना कहाँ शोभा देता है ?'

—और सब, सातों, स्त्रियाँ आर्यिकाजीके निकट दीक्षित होने चलीं !

रह गया अकेला सुभानु !

चार छह दिन बीते। तबियत न लगी ! मजबूरन उसने भी विराग स्वीकार किया।

× × × ×

[७]

बहुत दिन बाद, एक दिन—

घूमते-फिरते सातों साधु और सातों अर्यिकाएँ उज्जैन आ पधारे !

दर्शकोंके ठठ लग गए ! वजमुष्टि भी आया, और मंगी भी !

वज्रमुष्टि बैठा, साधु-सभामें। और मंगी अर्यिकाओंके संघमें।

दैवयोग !!!

दोनोंने एक ही समयमें, एक ही प्रश्न किया—'इतनी-सी उम्रमें ही आप लोगोंने क्यों वैराग्य लिया ?'

उत्तरमें मंगीकी कथा कह कर साधुवर्गने समाधान किया।

वज्रमुष्टि दंग रह गया !···क्या मंगीका प्रेम दम्भ था ? वह हत्या कर रही थी मेरी ? वाहरे संसार ! तभी साधु-जन इसे ठुकराकर वैराग्यकी ओर बढ़ते हैं !'···

और उधर—मंगी लज्जाके मारे मर मिटी ! चाहती—धरती फट जाय, और वह उसमें समा सके !

अनुतापसे उसका मुँह बुझे-कोयलेकी तरह हो गया ! सोचने लगी—'जो हुआ है, वह नारी-धर्मके विरुद्ध हुआ है। उसका प्रतीकार सिर्फ़ वैराग्य-लाभसे ही हो सकता है—अब !'

× × × ×

और तब, उपस्थित जनताने देखा—'मंगी और वज्रमुष्टि दोनों वस्त्राभरणका त्याग कर, साधुचरण के समक्ष तपोभूमिमें प्रवेश कर रहे हैं—प्रसन्न चित्त !

महाकवि पुष्पदन्त

[लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी]

[गत किरणसे आगे]

८—समय-विचार

महापुराणकी उत्थानिकामें कविने जिन सब ग्रंथों और ग्रन्थकर्ताओंका उल्लेख किया है,[1] उनमें सबसे पिछले ग्रन्थ धवल और जयधवल हैं[2]। पाठक जानते हैं कि वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन ने अपने गुरुकी अधूरी छोड़ी हुई टीका—जयधवला टीकाको श० सं० ७५९ में राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के समयमें समाप्त की थी। अतएव यह निश्चित है कि पुष्पदन्त उक्त संवत्‌के बाद ही किसी समय हुए हैं, पहले नहीं।

रुद्रटका समय श्रीयुत् काणे और दे के अनुसार ई० सन् ८००—८५० के अर्थात् श० सं० ७२२ और ७७२ के बीच है। इससे भी लगभग उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।

अभी हाल ही डा० ए० एन० उपाध्येको अपभ्रंश भाषाका 'धम्मपरिक्खा[3]' नामका ग्रंथ मिला है जिस के कर्त्ता बुध (पंडित) हरिषेण हैं, जो धक्कड़वंशीय गोवर्द्धनके पुत्र और सिद्धसेनके शिष्य थे। वे मेवाड़ देशके चित्तौड़के रहनेवाले थे और उसे छोड़कर कार्यवश अचलपुर चले गये थे[4]। वहांपर उन्होंने वि०सं०

१ अकलंक, कपिल (सांख्यकार), कणचर या कणाद (वैशेषिकदर्शनकर्त्ता), द्विज (वेदपाठक), सुगत (बुद्ध), पुरंदर (चार्वाक), दन्तिल, विशाख (संगीतशास्त्रकर्ता), भरत (नाट्यशास्त्रकार), पतंजलि, भारवि, व्यास, कोहल (कुष्माण्ड कवि), चतुर्मुख, स्वयंभु, श्रीहर्षद्रोण, बाण, धवल-जयधवल-सिद्धान्त, रुद्रट, और यशश्चिन्ह, इतनोंका उल्लेख किया गया है। इनमेंसे अकलंक, चतुर्मुख और स्वयंभु जैन हैं। अकलंक जयधवलाकार जिनसेनसे पहले हुए हैं। चतुर्मुख और स्वयंभूका ठीक समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है परन्तु स्वयंभू अपने पउमचरियमें आचार्य (रविषेणका उल्लेख करते हैं जिन्होंने वि० सं० ७३३ में पद्मपुराण लिखा था)। इससे उनसे पीछेके हैं। उन्होंने चतुर्मुखका भी स्मरण किया है। स्वयंभू अपभ्रंश भाषाके ही महाकवि थे। इनके पउमचरिउ (पद्मचरित) और हरिवंशपुराण उपलब्ध हैं। उनका एक छन्दशास्त्र भी है, जिसके पहले तीन प्रकरण प्रो० वेलणकरने JBBRAS 1935 PP 18-58 में प्रकाशित किये हैं। 'पंचमिचरियं' नामका ग्रन्थ भी उनका बनाया हुआ है, जो अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ है। स्वयंभू यापनीयसंघके अनुयायी थे, ऐसा महापुराण-टिप्पणसे मालूम होता है।

२ णउबुज्झिउ आयमसद्दधामु, सिद्धंत धवलु जयधवलुणामु।

३ आचार्य अमितगतिकी संस्कृत 'धर्मपरीक्षा' इसके बाद बनी है। हरिषेणकी धर्मपरीक्षाके भी पहले जयराम नामक कविका गाथाबद्ध कोई ग्रन्थ था जिसके आधारसे उक्त धम्मपरिक्खा लिखी गई है—

जा जयरामें आसि विरइय गाहपबंधें।
साहमि धम्मपरिक्ख सा पद्धड़िया बंधें॥

संस्कृत धर्मपरीक्षा इन दोमेंसे किसी एकका अनुवाद होना चाहिए।

४ इह मेवाडदेसे जणसंकुले, सिरि उजपुरणिगय धक्कडकुले।....
गोवद्धणु णामें उप्पण्णओ, जो सम्मत्तरयणसंपुण्णओ।
तहो गोवद्धणासु पियगुणवइ, जा जिणवर-पयणिच्चवि-णवइ।
ताए जाणिउ हरिसेणणामसुओ, जो संजाउ विबुहकइविस्सुओ

१०४४ में अपना यह ग्रन्थ समाप्त किया था[1]। इस ग्रन्थके प्रारंभमें अपभ्रंशके चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्त इन तीन महाकवियोंका स्मरण किया गया है [2]। इससे सिद्ध है कि वि० सं० १०४४ या श० सं० ९०९ से पहले पुष्पदन्त एक महाकविके रूप में प्रसिद्ध होचुके थे। अर्थात् पुष्पदन्तका समय ७५९ और ९०९ के बीच होना चाहिए। न तो उनका समय श० सं० ७५९ के पहले जा सकता है और न ९०९ के बाद।

अब यह देखना चाहिए कि वे श० सं० ७५९ (वि० सं० ८९४) से कितने बाद हुए हैं।

कविने अपने ग्रन्थोंमें तुडिगु [3], शुभतुंग [4], वल्लभनरेन्द्र [5] और कण्हरायका उल्लेख किया है और इन सब नामों पर ग्रन्थोंकी प्रतियों और टिप्पणग्रन्थोंमें 'कृष्णराजः' टिप्पणी दी है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये सभी नाम एक ही राजाके हैं। वल्लभराय या वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूट राजाओंकी पदवी थी, इसलिए यह भी मालूम होगया कि कृष्णराय राष्ट्रकूटवंशके राजा थे।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी पहले मयूरखंडी (नासिक) में थी, पीछे अमोघ वर्ष (प्रथम) ने श० सं० ७३७ में उसे मान्यखेटमें प्रतिष्ठित की। पुष्पदन्तने कृष्णराजकी राजधानी भी मान्यखेट ही बतलाई है और कण्हराय को वहां का राजा बतलाया है जो कि कृष्णराजका प्राकृतरूप है—

सिरिकण्हरायकरयलणिहिय आसिजलवाहिणि दुग्गयरि
धवलहरसिहरिहयमेहउलि पविउल मण्णखेडणयरि ॥
—नागकुमारचरित

अर्थात् कण्हरायकी हाथकी तलवाररूपी जलवाहिनी से जो दुर्गम है और जिसके धवलगृहोंके शिखर मेघावलीसे टकराते हैं, ऐसी बहुत बड़ी मान्यखेट नगरी है।

राष्ट्रकूटवंशमें कृष्ण नामके तीन राजा हुए हैं, एक तो वे जिनकी उपाधि शुभतुंग थी। परन्तु इनके समय तक मान्यखेट राजधानी ही नहीं थी, इसलिए पुष्पदन्तका मतलब इनसे नहीं हो सकता।

द्वितीय कृष्ण अमोघवर्ष (प्रथम) के उत्तराधिकारी थे, जिनके समयमें गुणभद्राचार्यने श० सं० ८२० में उत्तरपुराणकी समाप्ति की थी। और जिन्होंने श० सं० ८३३ तक राज्य किया है। परन्तु इनके साथ उन सब बातोंका मेल नहीं खाता जिनका पुष्पदन्तने उल्लेख किया है। इसलिए कृष्ण तृतीयको ही हम उनका समकालीन मान सकते हैं। क्योंकि—

१—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है चोलराजाका सिर कृष्णराजने कटवाया[6], इसके प्रमाण इतिहासमें मिलते हैं और चोल देशको जीत कर कृष्ण तृतीयने अपने अधिकारमें कर लिया था।

२—यह चोलनरेश परान्तक ही मालूम होता है

सिरिचित्तउडु चएवि अचलउरेहो, गउ णियकज्जें जिणहरपउरहो।
तहिं छंदालंकारपसाहिइ, धम्मपरिक्ख एह ते साहिय ।

१ विक्कमणिव परियत्तइ कालए, ववगए वरिस सहसचउतालए।

२ चउमुहु कव्वविरयणे सयंभुवि, पुप्फयंतु अण्णाणणिसंभुवि।
तिण्णवि जोग्गजेणतं सासइ, चउमुहमुहे थिय ताम सरासइ ।
जो सयंभु सोहेउ पहाणउ, अहकह लोयालोय वि याणउ ।
पुप्फयंतु णवि माणुसु बुचइ, जे सरसइए कयावि ण मुचइ ।

३ भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिं अच्छइ 'तुडिगु' महाणुभाउ ।
म० पु० १-३-३

४ सुहतुंगदेवकमकमलमसलु, णीसेसकलाविण्णाण कुसलु ।
म० पु० १-५-२

५ वल्लभणरिंदघर महत्तरासु ।

६ उव्वद्धजूडु भूभंगभीसु, तोडेप्पिणु चोलहो तणउ सीसु ।

जिसने वीरचोलकी पदवी धारण की थी।

३—धारानरेश-द्वारा मान्यखेटके लूटे जानेका जो उल्लेख पुष्पदन्तने किया है[1], वह भी कृष्ण द्वितीयके साथ मेल नहीं खाता। यह घटना कृष्णराज तृतीय की मृत्युके बाद खोट्टिगदेवके समय की है और इस की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। धनपालने अपनी 'पाइयलच्छी (प्राकृतलक्ष्मी) नाममाला' में लिखा है—

विक्कमकालस्स गए अउणुत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
मालवणरिंदधाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि॥२७६॥

अर्थात् वि० सं० १०२९ में जब मालव नरेन्द्रने मान्यखेटको लूटा, तब यह ग्रंथ रचा गया।

मान्यखेटको किस मालव—राजाने लूटा इसका पता परमार राजा उदयादित्यके समयके उदयपुर (ग्वालियर) के शिलालेखमें[2] परमार राजाओंकी जो प्रशस्ति दी हैं उसके १२ वें पद्यसे लग जाता है—

श्रीहर्षदेव' इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं,
जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः।

अर्थात् हर्षदेवने खोट्टिगदेवकी राजलक्ष्मीको युद्धमें छीन लिया।

ये हर्षदेव ही धारानरेश थे, जो सीयक (द्वितीय) या सिंहभट भी कहलाते थे और, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जिनपर कृष्णतृतीयने चढ़ाई की थी। खोट्टिगदेव कृष्णतृतीय के भाई और उत्तराधिकारी थे।

४—महापुराणकी रचना जिस सिद्धार्थ संवत्सर में शुरू की गई थी, उसी संवत्सरमें सोमदेवसूरिने अपना यशस्तिलक चम्पू समाप्त किया था और उस समय कृष्णतृतीयका पड़ाव मेलपाटीमें था। पुष्पदन्त ने भी अपने ग्रंथप्रारंभके समय कृष्णराजका मेलपाटी में रहनेका उल्लेख किया है। साथ ही इस प्रशस्तिमें उनको चोल आदि देशोंका जीतनेवाला भी लिखा है। ऐसी दशामें पुष्पदन्तका कृष्णतृतीयके समयमें होना निःसंशयरूपसे सिद्ध होजाता है। वह प्रशस्ति यह है—

"शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्य - धिकेषु गतेषु अंकतः ८८१ सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गत-चैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरम-प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटीप्रवर्द्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत पंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः — सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वद्दिगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुंधरायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।"

अर्थात् शक ८८१ सिद्धार्थसंवत्सरकी चैत्र-मदन त्रयोदशीके दिन जब श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य-सिंहल, चोल, चेरम आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटीमें अपने बढ़ते हुए राज्यका प्रभाव प्रकट कर रहे थे तब उनके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले महासामन्ताधिपति चालुक्यवंशी अरिकेसरीके पुत्र वद्दिगराज की गंगधारामें यह काव्य निर्माण किया गया।

पहले उक्त मेलपाटीमें ही पुष्पदन्त पहुँचे थे, सिद्धार्थ संवत्सरमें ही उन्होंने अपना महापुराण प्रारंभ किया था और यह सिद्धार्थ श० सं० ८८१ ही था। मेलपाटी या मेलाडिमें श० ८८१ में कृष्णराज थे, इसके और भी प्रमाण मिले हैं जो ऊपर दिये जा चुके हैं।

---

१ दीनानाथधनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,
मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं,
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥

२ एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १ पृ० २२६

इन सब प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श० सं० ८८१ में पुष्पदन्त मेलपाटीमें भरत महामात्यसे मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होंने महापराण शुरू करके उसे श० सं० ८८७ में समाप्त किया। इसके बाद उन्होंने नागकुमार चरित और यशोधर चरित बनाये। यशोधर चरित की समाप्ति उस समय हुई जब मान्यखेट लूटा जा चुका था। यह श० सं० ८९४ के लगभगकी घटना है। इस तरह वे ८८१ से लेकर कमसे कम ८९४ तक लगभग तेरह वर्ष मान्यखेटमें महामात्य भरत और नन्नके सम्मानित अतिथि होकर रहे, यह निश्चित है। उसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता।

बुधहरिषेणकी धर्मपरीक्षा मान्यखेटकी लूटके कोई पन्द्रह वर्ष बादकी रचना है। इतने थोड़े ही समयमें पुष्पदन्तकी प्रतिभाकी इतनी प्रसिद्धि हो चुकी थी। हरिषेण कहते हैं, पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही हैं, उन्हें सरस्वती देवी कभी नहीं छोड़ती।

एक शंका

महापुराणकी ५० वीं सन्धिके प्रारंभमें जो 'दीनानाथधनं' आदि संस्कृत पद्य दिया है और पृ० ४५७ के फुटनोटमें उद्धृत किया जा चुका है, और जिसमें मान्यखेटके नष्ट होनेका संकेत है, वह श०सं० ८९४ के बादका है और महापुराण ८८७ में ही समाप्त हो चुका था। तब शंका होती है कि वह उसमें कैसे आया?

इसका समाधान यह है कि उक्त पद्य ग्रन्थका अविच्छेद्य अंग नहीं है। इस तरहके अनेक पद्य महापुराणकी भिन्न भिन्न सन्धियोंके प्रारंभमें दिये गये हैं। ये सभी मुक्तक हैं, भिन्न भिन्न समयमें रचे जाकर पीछेसे जोड़े गये हैं और अधिकांश महामात्य भरतकी प्रशंसाके हैं। ग्रन्थरचनाक्रमसे जिस तिथिको जो संधि प्रारंभकी गई, उसी तिथिको उसमें दिया हुआ पद्य निर्मित नहीं हुआ है। यही कारण है कि सभी प्रतियोंमें ये पद्य एक ही स्थान पर नहीं मिलते हैं। एक पद्य एक प्रतिमें जिस स्थान पर है, दूसरी प्रतिमें उस स्थान पर न होकर किसी और स्थान पर है। किसी किसी प्रतिमें उक्त पद्य न्यूनाधिक भी हैं। अभी बम्बईके सरस्वती-भवनकी प्रतिमें हमें एक पूरा पद्य और एक अधूरा पद्य अधिक भी मिला है* जो अन्यप्रतियोंमें नहीं देखा गया।

यशोधरचरितकी दूसरी तीसरी और चौथी सन्धियोंमें भी इसी तरहके तीन संस्कृत पद्य नन्नकी प्रशंसाके हैं जो अनेक प्रतियोंमें हैं ही नहीं। इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि ये सभी या अधिकांश पद्य भिन्न भिन्न समयोंमें रचे गये हैं और प्रतिलिपियाँ कराते समय पीछेसे जोड़े गये हैं। गरज यह कि 'दीनानाथधनं' आदि पद्य मान्यखेटकी लूटके बाद लिखा गया और उसके बाद जो प्रतियाँ लिखी गईं, उनमें जोड़ा गया निश्चय ही यह पद्य उसके पहले जो प्रतियाँ लिखी जा चुकी होंगी उनमें न होगा।

इस प्रकारकी एक प्रति महापुराणके सम्पादक डा० पी० एल० वैद्यको नाँदणी (कोल्हापुर) के श्री तात्या साहब पाटीलसे मिली है जिसमें उक्त पद्य नहीं है×। ८९४ के पहलेकी लिखी हुई इस तरहकी

* हरति मनसो मोहं द्रोहं महाप्रियजंतुजं।
भवतु भविनां दंभारंभः प्रशांतिकृतो।
जिनवरकथा ग्रन्थप्रस्तांगमितस्त्वया।
कथय कमदं तोयस्तीते गुणान् भरतप्रभो।
—४२ वीं सन्धिके बाद

आकल्पं भरतेश्वरस्तु जयतायेनादरात्कारिता।
श्रेष्ठायं भुवि मुक्तये जिनकथा तत्त्वामृतस्यन्दिनी।
पहला पद्य बहुत ही अशुद्ध है। —४३ वीं संधिके बाद

× देखो महापुराण प्र० खं०, डा० पी० एल० वैद्य-लिखित भूमिका पृ० १७

और भी प्रतियोंकी प्रतिलिपियाँ मिलनेकी संभावना है।

एक और शंका

'महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण' शीर्षक लेख मैंने 'भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट' पूना की वि० सं० १६३० की लिखी हुई जिस प्रतिके आधारसे लिखा था, उसमें प्रशस्तिकी तीन पंक्तियाँ, इस रूपमें हैं—

पुप्फयंतकइणा धुयपंकें, जइ अहिमाणमेरुणामंकें।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें, छसयछडोत्तर कयसामत्थें॥
कोहण संवच्छरे आसाढए दहमए दियहे चंदरुइरूढए

इसके 'छसयछडोत्तर कयसामत्थें' पदका अर्थ उस समय यह किया गया था कि यह ग्रंथ शकसंवत् ६०६ में समाप्त हुआ[1]। परन्तु पीछे जब गहराईसे विचार किया गया तब पता लगा कि ६०६ संवत् का नाम क्रोधन हो ही नहीं सकता चाहे वह संवत् हो, विक्रम संवत् हो, गुप्त या कलचुरि संवत् हो। और इसलिए तब उक्त पाठके सही होनेमें सन्देह होने लगा। 'छसयछडोत्तर' तो खैर ठीक, पर 'कयसामत्थें' का अर्थ दुरूह बन गया। तृतीयान्त पद होनेके कारण उसे कविका विशेषण बनानेके सिवाय और कोई चारा नहीं था। यदि बिन्दी निकालकर उसे सप्तमी समझ लिया जाय, तो भी 'कृतसामर्थ्ये' का कोई अर्थ नहीं बैठता। अतएव शुद्ध पाठकी खोज की जाने लगी।

सबसे पहले प्रो० हीरालालजी जैनने अपने 'महाकवि पुष्पदन्तके समयपर विचार' लेख[2]में बतलाया कि कारंजाकी प्रतिमें उक्त पाठ इस तरह दिया हुआ है—

पुप्फयंत कइणा धुयपंकें, जइ अहिमाणमेरुणामंकें।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें, जिणपयपंकयमउलियहत्थें।
कोहणसंवच्छरे आसाढए, दहमइ दिवहे चंदरुइरूढए॥

अर्थात्, क्रोधन संवत्सरकी असाढ़ सुदी १० को जिन भगवानके चरण कमलोंके प्रति हाथ जोड़े हुए अभिमानमेरु, धूतपंक (धुल गये हैं पाप जिसके), और परमार्थी पुष्पदन्त कविने भक्तिपूर्वक यह काव्य बनाया।

यहां बम्बईके सरस्वतीभवनमें जो प्रति (१९३ क) है, उसमें भी यही पाठ है और हमारा विश्वास है कि अन्य प्रतियोंमें भी यही पाठ मिलेगा।

ऐसा मालूम होता है कि पूने वाली प्रतिके अर्द्ध दग्ध लेखकको उक्त स्थानमें मिती लिखी देखकर संवत-संख्या देनेकी जरूरत मालूम हुई होगी और उसकी पूर्ति उसने अपनी विलक्षण बुद्धिसे स्वयं कर डाली होगी।

यहाँ यह बात नोट करने लायक है कि कविने सिद्धार्थ संवत्सरमें अपना ग्रंथ प्रारंभ किया और क्रोधन संवत्सरमें समाप्त। न वहाँ शक संवत् दिया और न यहाँ। इसके सिवाय पुष्पदन्तके पूर्ववर्ती स्वयंभू ने भी अपने ग्रंथोंमें सिर्फ मिती ही दी है, संवत् नहीं दिया है।

तीसरी शंका

कविके समयके सम्बन्धमें एक शंका 'जसहर चरिउ' की उस प्रशस्तिके कारण खड़ी की गई जिसमें ग्रन्थ-रचनाका समय वि० सं० १३६५ बतलाया गया है। वह प्रशस्तिपाठ यह है—

किउ उवरोहें जस्स कइयइ एउ भवंतर।
तहो भव्वहु णामु पायडमि पयडउ धर॥२९॥
चिरु पट्टणे छंगे साहु साहु,
तहो सुउ खेला गुणवंतु साहु।
तहो तणुरुह वीसलुणामसाहु,
वीरोसाहुणि त्तिहि सुलहु णाहु॥
सोयार सुणणगुणगणसणाहु,
एक्कइया चिंतइ चिमि लाहु।
हो पंडिय ठक्कुर कण्हपुत्त,
उवयारियवल्लहपरममित्त॥
कइपुप्फयंत – जसहरचरित्तु,
किउ सुट्ठ सद्दलक्खण विचित्त।

---

१ स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी ग्रन्थसूचीमें भी पुष्पदन्तका समय ६०६ दिया हुआ है।

२ जैनसाहित्य संशोधक भाग २ अंक ३-४।

पेसहिं तहिं राउलु कउलु अज्जु(?),
जसहरविवाहु तह जणिय चोज्जु ।
सयलहं भवभमणभवंतराइं ,
महु वंछिउ करहिं णिरंतराइं ।।
ता साहुसमीहिउ कियउ सव्वु ,
राउलु विवाहु भवभमण भव्वु ।
वक्खाणिउ पुरउ हवेइ जाम,
संतुट्ठउ वीसलु साहु ताम ।
जोइणिपुरवरि णिवसंतु सुट्ठु ,
साहुहि घरे सुत्थियणहु घुट्ठु ।।
पणसट्ठिसहिय तेरहसयाइं ,
णिवविक्कम संवच्छरगयाइं ।
वइसाहपहिल्लइ पक्खि बीय,
रविवारि समित्थउ मिस्स तीय ।।
चिरु वत्थुबंध कइ कियउ जंजि,
पद्धडियबंधि मइं रइउ तंजि ।
गंधव्वे कण्हड णंदणेण ,
आयहं भवाइं कियथिरमणेण ।
महु दोसु ण दिज्जइ पुव्वि कइउ,
कइवच्छराइं तं सुत्तु लइउ ।।

इसका भावार्थ यह है—

"जिसके उपरोध या आग्रहसे कविपतिने यह पूर्वभवोंका वर्णनकिया (अब मैं) उस भव्यका नाम प्रकट करता हूँ। पहले पट्टण[1] या पानीपतमें छुंगे साहु नाम के एक साहु थे। उनके खेला साहु नामके गुणी पुत्र हुए। फिर खेला साहु के बीसलसाहु हुए जिनकी पत्नीका नाम वीरो था। वे गुणी श्रोता थे। एक दिन उन्होंने अपने चित्तमें सोचा (और कहा) कि हे कण्ह के पुत्र पंडित ठक्कुर (गन्धर्व) वल्लभराय (कृष्ण तृतीय) के परम मित्र और उपकारित कवि पुष्पदन्तने सुन्दर और शब्दलक्षणविचित्र जो जसहरचरित बनाया है उसमें यदि राजा और कौलका प्रसंग, यशोधरका आश्चर्यजनक विवाह और सारे भवांतर और प्रविष्ट करदो, तो मेरा मन चाहा हो जाय। तब मैंने साहुने जो चाहा था वही सब किया, राउलु (राजा और कौलका प्रसंग), विवाह और भवांतर। फिर जब सामने व्याख्यान किया, सुनाया, तब बीसल साहु सन्तुष्ट हुए। योगिनीपुर (दिल्ली) में साहुके घर अच्छी तरह सुस्थितिपूर्वक रहते हुए विक्रम राजाके १३६५ संवत्में पहले वैशाखके दूसरे पक्षकी तीज रविवारको यह कार्य पूरा हुआ।"

"पहले कवि (वच्छराय) ने जिसे वस्तु छन्दबद्ध किया था, वही मैंने पद्धड़ीबद्ध रचा।"

"कन्हड़के पुत्र गन्धर्वने स्थिर मनसे भवांतरोंको कहा है। इसमें कोई मुझे दोष न दे। क्योंकि पूर्वमें वच्छरायने यह कहा था। उसीके सूत्रको लेकर मैंने कहा है।"

इसके आगेका घत्ता और प्रशस्ति स्वयं पुष्पदन्त कृत है जिसमें उन्होंने अपना परिचय दिया है।

पूर्वोक्त पद्योंसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि गन्धर्व कविने दिल्लीमें पानीपतके रहने वाले बीसल-साहु नामक धनीकी प्रेरणासे तीन प्रकरण स्वयं बना कर पुष्पदन्तके यशोधर चरितमें पीछेसे सं० १३६५ में शामिल किये हैं और कहाँ कहाँ शामिल किये हैं, सो भी यथास्थान ईमानदारीसे बतला दिया है। देखिए—

१ पहली सन्धिके चौथे कड़वककी 'चाएणकण्णु विहवेण इंदु' आदि पंक्तिके बाद आठवें कड़वकके अन्त तककी ८१ लाइनें गन्धर्वरचित हैं जिनमें राजा मारिदत्त और भैरवकुलाचार्यका संलाप है। उनके अन्तमें कहा है—

गंधव्वु भणइ मइं कियउ एउ, णिव जोईसहो संजोय भेउ
अग्गइ कइरायपुप्फयंतु सरसइणिलउ ।
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ।।

अर्थात् गन्धर्व कहता है कि यह राजा और योगीश (कौलाचार्य) का संयोग-भेद मैंने कहा। अब आगे सरस्वतीनिलय कविकुलतिलक कविराज पुष्पदन्त (मैं नहीं) देवीका स्वरूप वर्णन करते हैं।

२ पहली ही सन्धिके २४ वें कड़वककी 'पोढत्तणि पुट्ठि पलट्टियंगु' आदि लाइनसे लेकर २७ वें

१ 'पट्टण' पर 'पानीपत' टिप्पणी दी हुई है।

कड़वक तककी ७९ लाइनें भी गन्धर्व की हैं। इसे उन्होंने ७९ वीं लाइनमें इस तरह स्पष्ट किया है।

जं वासवसेणिं पुव्व रइउ, तं पेक्खवि गंधव्वेण कहिउ

अर्थात् वासवसेनने पूर्वमें (ग्रन्थ) रचा था, उस को देखकर ही यह गन्धर्वने कहा[1]।

३ चौथी संधिके २२ वें कड़वककी 'जउजरिउ जेण बहुभेयकम्म' आदि १५ वीं पंक्तिसे लेकर आगेकी १७२ लाइनें भी गन्धर्व की हैं। इसके आगे की कुछ लाइनें प्रकरणके अनुसार कुछ परिवर्तित करके लिखी गई हैं[2]। फिर एक घत्ता और १५ लाइनें[3] गन्धर्व की हैं जो ऊपर भावार्थ सहित दे दी गई हैं।

इस तरह इस ग्रंथमें सब मिलाकर ३३५ पंक्तियाँ प्रक्षिप्त हैं और वे ऐसी हैं कि ज़रा गहराईसे देखनेसे पुष्पदन्तकी प्रौढ और सुन्दर रचनाके बीच छुप भी नहीं सकतीं। अतएव गन्धर्वके क्षेपकोंके सहारे पुष्पदन्तको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिमें नहीं घसीटा जा सकता।

इसके सिवाय बहुत थोड़ी ही प्रतियोंमें सो भी उत्तर भारतकी प्रतियोंमें यह प्रक्षिप्त अंश मिलता है। बम्बईके तेरहपंथी जैन मन्दिरकी जो वि० सं० १३९० की लिखी हुई अतिशय प्राचीन प्रति है, उसमें गन्धर्व-रचित उक्त पंक्तियाँ नहीं हैं, यहाँके सरस्वती भवन की दो प्रतियोंमें भी नहीं हैं।

उपसंहार

पूर्वोक्त तीनों शंकाओंका समाधान हो जानेके बाद अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि—

१ पुष्पदन्त राष्ट्रकूटसम्राट् कृष्णतृतीय और उनके उत्तराधिकारी खोट्टिगदेवके समकालीन थे और श० सं० ८८१ से ८९४ तक उनके मान्यखेटमें रहनेके प्रमाण मिलते हैं। संभव है, कर्क (द्वि०) के समयमें भी वे रहे हों।

२ उनके आश्रयदाता महामात्य भरत कमसेकम ८८७ तक जीवित थे, जबकि महापुराण समाप्त हुआ।

३ नागकुमारचरित और यशोधरचरितकी रचना के समय भरतका स्वर्गवास हो चुका था और उनके पुत्र नन्न गृहमंत्री हो गये थे। यशोधरचरितकी समाप्ति मान्यखेटके बरबाद होजानेके बाद हुई जबकि कर्क (द्वि०) गद्दीपर होंगे।

१ श्रीवासवसेनके इस यशोधरचरितकी प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें (नं० ६०४ क) मौजूद है। यह संस्कृतमें है। इस की अन्तिम पुष्पिकामें 'इति यशोधरचरिते मुनिवासव-सेनकृते काव्ये ···अष्टमः सर्गः समाप्तः' वाक्य है। प्रारम्भमें लिखा है 'प्रभंजनादिभिः पूर्वं हरिषेणसमन्वितैः यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितुम्।' इससे मालूम होता है कि उनसे पूर्व प्रभंजन और हरिषेणने यशोधरके चरित लिखे थे। इस कविने अपने समय और कुलादिका कोई परिचय नहीं दिया है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे गन्धर्व कविसे पहले हुए हैं। इस ग्रन्थकी एक प्रति प्रो० हीरालालजीने जयपुरके बाबा दुलीचन्दजीके भंडारमें भी देखी थी और उसके नोट्स लिये थे। हरिषेण शायद वे ही हों, जिनकी धर्मपरीक्षा (अपभ्रंश) अभी डा० उपाध्येने खोज निकाली है।

२ अपरिवर्तित पाठ मुद्रित ग्रन्थमें न होनेके कारण यहाँ दे दिया जाता है—

सो जसवइ सो कल्लाणमित्तु, सो अभयणाउ सो मारिदत्तु।
वणिकुलपंकयबोहणदिणेसु, सो गोवड्ढणु गुणगणविसेसु॥
सा कुसुमावलि पालियति गुत्ति, सा अभयमइत्ति णंदिपुत्ति।
भव्वइं दुण्णयणिण्णासणेण, तउ चयेवि चारु सण्णासणेण
कालें जंतें सव्वइमयाइं, जिणधम्में सग्गग्गहो गयाइं॥

३ बम्बईके सरस्वतीभवनमें जो ८०४ क नं० की संस्कृत छायासहित प्रति है उसमें 'जिणम्में सग्गग्गहो गयाइं' के आगे 'गंधव्वे कण्हडणंदणेण' आदि केवल दो पंक्तियाँ प्रक्षिप्त पाठमें की न जाने कैसे आ पड़ी हैं। इस प्रतिमें इन दो पंक्तियोंको छोड़कर और कोई प्रक्षिप्त अंश नहीं है।

रानी

[लेखक—'भगवत' जैन]

[१]

वह चाँद-सा सुन्दर बालक जब उसकी आँखोंके सामने आता, तो वह आन्द-विभोर हो जाती! तन-वदनकी सुध भूल जाती—कुछ देरके लिए—सृष्टिकी समस्त रचनाओंकी मधुरताको!

उसका धर्म, उसका कर्म, उसका सुख, उसकी सम्पत्ति—सब कुछ बस, वही था, तीन सालका विकार-हीन बालक!

वह उसकी मृदुल-मुस्कानमें स्वर्ग-सुखका अनुभव करती उसके करुण-क्रन्दनमें निष्ठुर-विधाताकी कुटिलताका दर्शन करती! जब वह अपनी अनक्षरी-वाणीद्वारा अपने भावोंको व्यक्त करनेका उपक्रम करता, तो वह हँसते-हँसते दोहरी पड़ जाती! जैसे सारे शरीरसे हँस रही हो!

और बच्चा माँ को हँसते देखता, तो और भी बोलने का साहस करता! तब वह स्वर्गमें डूब जाती, संसारकी विषमता उससे दूर रहती!

वह उसे चूमती, प्यार करती और गोदमें दबोचलेती! बच्चेको थोड़ी तकलीफ़ ज़रूर होती है, यह बात वह भूलती नहीं! लेकिन उसका मन जो अपने आपेमें नहीं रहता! मन तो मचलकर कहता है—काश, वह उसे मनमें ही बन्द कर सके! पर इतना बड़ा समाये कैसे? लाचारी तो यही है!

क्या मजाल जो कभी एक उँगलीसे, मारनेके नाम से छुआ हो? यह बात नहीं कि सभी बातें उसकी उसे पसन्द आती, नहीं; कुछ बुरी भी लगतीं, हल्का-पूरा गुस्सा भी आता कभी-कभी! पर, वह उसे मारती हर्गिज़ न! दुलारा, प्यारा जो था, जी से भी ज़्यादह!

लेकिन यह थी कौन, कोमलांगी, दयाकी, ममताकी देवी?····

हाँ उसका नाम था—रानी! वह गौरवर्ण, सुन्दर-शरीर, नव-यौवना बिल्लोचिन थी! जी, हाँ! वही बिल्लोचिनें—जो अपनी बर्बरता, पशुता, नृशंसताके सबब—सब के लिए आतंक होती हैं! जिस शहरमें वे पहुँच जाती हैं, वहाँके निवासी उनसे आँख मिलाने तककी अपनेमें शक्ति नहीं महसूस करते। उनसे लेन-देन या व्यवहारकी बात तो दूर! शायद बहुत दूर!!

दरअसल वे ख़ौफ़नाक, लड़ाकू, दया-हीन और निन्द्य-प्रवृत्ति होती हैं! जिसने उनसे कुछ खरीदना चाहा, समझ लीजिए कि उसकी शामत आगई! ड्योढ़े-दूने दामोंमें उसे वह चीज़ लेनी ही पड़ेगी, जिसके बारेमें ज़ुबानसे वह कुछ भी कह चुका है! भले ही लड़ाई हो जाय, झगड़ा हो जाय, भीड़ जुड़ जाय! पुरुषको दबानेकी एक तरकीब और इस्तैमाल करती हैं—वे! कि—'मुझसे मखौल करता है!'

सच, वे ऐसी ही होती हैं! उनमें कोमलता नामकी कोई चीज़ लोग नहीं देखते! लेकिन क्या सचमुच ऐसा ही है? क्या यही वास्तविक है, कि उनके हृदय नहीं होता? और होता भी है तो उसके अन्दर दया नहीं होती? क्या यह सम्भव है? विश्वास किया जा सकता है?

अगर हाँ! तो फिर दयाको सार्व-धर्म क्यों कहा जाता है? विश्व-धर्म कहकर क्यों पुकारा जाता है?

आप उत्तर देंगे?

× × ×

[२]

रानीने रो-रोकर आसमान सिरपर उठा लिया ! पर, क्या कुछ नतीजा निकल सकता था ? गया हुआ कभी लौटा भी है ?

बात कुछ बड़ी नहीं थी ! मामूली बुखार था ! ऐसा, दो-एक बार पहले भी आ चुका था, नया थोड़ा था ! पर, अबकी बार वह मौतको भी साथ ले आया, इसका किसी को पता न चला।

बुखारने ज़ोर पकड़ा ! इधर था, सर्दीका मौसम ! हो गया चट निमोनियाँ ! दवाएँ हुई, दुआएँ माँगी गई, अनेक उपचार हुए ! परन्तु सब व्यर्थ ! सब चेष्टाएँ निष्फल ! उस का जीवन-काल सिर्फ तीन-वर्षकी अल्प-अवधिमें आबद्ध था ! भला टाला जा सकता था, वह !

× × ×

रानीकी गोद सूनी होगई ! और साथ ही उसके लिए सारी दुनिया, इस बड़ी-सी दुनियासे कहीं अधिक सुन्दर, अधिक आनन्ददायी और अधिक मनोरम थी !

उसकी लावण्यता बासी-फूलकी तरह अशोभन होगई है ! न अब पहले-सी प्रफुल्लित रहती है, न मुग्ध ! यों उस का तारुण्य अब भी उसके पास है, कहीं गया नहीं ! लेकिन अब उसमें उमंग नहीं, उत्साह नहीं; उसके रिक्त-स्थान पर तीसरे-पन जैसी निराशा है !

उसके मनमें, मनके एक अधूरे कोनेमें, एक वेदना है, कसक है, एक घाव है ! जो उसे पनपने नहीं देता, उसके तारुण्यको निखरने नहीं देता; मुर्दा बनाए बैठा है !

वह मुँहपर उदासी पोते हुए, बैठी रहती है—सुस्त, गुम-सुम ! निराशाकी प्रतिमूर्ति-सी। दिनका दिन बीत जाता है, रात भी आती और खिसक जाती है ! पर वह है, जो न खाती है, न पीती ! न हँसती, न किसीसे बोलती-चालती ! हां, जब कभी रोते हुए उसे ज़रूर देखा गया हैं !

जीवन उसका अब दूसरी ओरको बह रहा है ! पर, वह उससे बेखबर नहीं ! बहाये जारही है ! शायद सोच बैठी है—'चेष्टा कोई चीज़ नहीं, भाग्यनिर्णय बड़ी वस्तु है'

दिन समीरकी गतिसे निकलते चले जारहे हैं ! बिल्लोचियोंका काफ़ला भी पर्यटन करता जारहा है, आज यहाँ तो कल वहाँ !

× × ×

[३]

बहुत दिन बाद, एकदिन—

चार छः हमजोलियोंके साथ, रोजकी तरह रानी शिकार की टोहमें निकली ! निर्जन-वन था ! पशु-पक्षी अपने मिले हुए, थोड़े-से सुखमें निमग्न, परिवारके साथ मौज़की किलकारियाँ भर रहे थे ! शहरके जन-रवसे दूर, वे अपनेको निराकुल और निरापद समझ रहे थे ! परन्तु क्या वह तपोभूमि उनके लिए निरापद थी भी ?

'ठाँय !'—की एक हल्की आवाज़के साथ एक सुन्दर परिन्दा ज़मीनपर आ गिरा ! रानीने गुलेलको मुँहमें दबाया और अपने कठोर हाथोंसे लपक कर उसे उठा लिया !

देखा—'वह मर चुका है !' फिर भी, यह आशंका न होनेपर भी कि वह उड़ सकता है, गर्दनको मरोड़ते हुए निर्दयतापूर्वक झोलेमें डाल लिया और आगे बढ़ी ! जैसे अभी उसकी नृशंसताको तृप्ति नहीं, भूख ब-दस्तूर हो !

साथी-लोग दूरपर, अपनी-अपनी घातमें लगे हैं ! किसीको इतना अवकाश नहीं, कि कौन क्या कर रहा है ? देखे ! ज़रूरत भी क्या ?

सघन-वृक्षके पत्तोंमें छिपा हुआ एक छोटा-सा नीड़ ! जिसमें बैठे थे दो पक्षी !—शायद कबूतर थे ! दोनों अपनी छोटी-सी राजधानीके बादशाह थे ! लेकिन उनके सामने राजनैतिक उलझनें नहीं थी ! उनका देश था—प्रेम, कानून था—तौज और टैक्स था—अल्प-भोजन ! किसी हद तक वे सुखी थे, और सुखमें बैठे, चैनकी बंशी बजा रहे थे ! उन्हें खबर नहीं थी कि भविष्य उनके लिए क्या वर्तमान बनानेमें मशगूल है ?

कि इसी समय रानीके गुलेलसे निकली हुई एक कठोर कंकड़ीने बेचारेका प्राणान्त कर दिया ! रोजके सधे हुए हाथ, क्या निशाना चूक सकते थे ?

वह रानी के पद-सन्निकट—ज़मीनपर—पड़ा तड़पने लगा,

पंख तड़फड़ाने लगा; और लगा अपनी गोल-गोल नन्हीं आँखोंसे इधर-उधर देखने! शायद किसीको खोजता हो! मिनिट-भरकी वेदनामय आयुमें क्या देखता, क्या सोचता? पीड़ा मौतकी दूती बनकर जो आई थी!

एक बेकलीकी तड़प!

और बस, खतम!

रानीने देखा—'वह एक कबूतरका बच्चा है, कैसा सुन्दर!'

वह उठानेके लिए झुकी! पर, यह क्या? सिरके पास खड़खड़ाहट कैसी है? नज़र उठाकर देखा तो एक या दो कबूतरको शोक-विह्वल चक्कर काटते पाया—बेचैन बेखबर!

रानी क्षण-भर रुकी, और अपने विचारोंमें डूब गई—जैसे अथाह-जलमें छोटी-सी कंकड़ी!

बच्चा मरा हुआ सामने पड़ा था! उसकी ममतामयी माँ—उसके विछोह-दुःखसे पागल हुई—उसे देख रही थी, सिर्फ देख ही रही थी, आँसू-भरी आँखोंसे! आह! उसे छू लेने तकका उसे हक़ नहीं था, हिम्मत नहीं थी, अधिकार नहीं था! वह कभी दरख्त की इस टहनी पर, कभी उसपर! कभी बैठती, कभी उठती! कभी भागी-भागी फिरती अन्तरिक्षकी छाती पर, बेतहाशा दौड़ती! ओह! उसे क्षण-भर भी चैन नहीं!

अरे, उसे कैसी वेदना थी—वह !!!

हृदयकी पुकार हृदय तक पहुँचने लगी, शायद घायल की गति घायलने जान ली!

रानीका कठोर-हृदय भी दयासे स्रावित होगया! वह सोचने लगी—

उसके भी एक बच्चा था—ऐसा ही सुन्दर; ऐसा ही कोमल, ऐसा ही प्यारा और ऐसा ही छोटा-मोटा, भोला-भाला! मगर............!

निर्दयी-कालने उसे न छोड़ा, उसके प्यारे बच्चेको देखते-देखते उठा लिया! वह विवश रोती-कलपती रह गई! कालपर किसका वश चला है? क्या करती...? 'हाय!' करके रह गई!

टप्—टप् !!!

दो-बूँद आँसू रानीकी आँखोंने बखेर दिये!

और उसी वक्त उसने देखा—बेचारी कबूतरी रो रही है! उसका बच्चा जो मर गया है! उसकी आँखोंका तारा!

रानीके मनमें विद्रोह उठा—'उसका निर्दयी-काल तो तू है रानी, तू!'

वह एक दम रो पड़ी! जैसे उसका बच्चा अभी ही मरा है! घाव कुरेदकर ताज़ा बना दिया हो! मां के हृदय ने मांके हृदयकी व्यथाको पहिचान लिया!

उसने गुलेल उठा कर दूर फेंकदी, जैसे वह उसकी चीज़ ही नहीं थी। भूलसे किसीने उसके हाथमें थमा दी थी!

विव्हला-कबूतरी इधर-उधर देखती रही, फिर वह अपने मृत-पुत्रके समीप आ बैठी!

देखता कोई वह करुण-दृश्य! दो मां-हृदयोंके बीचमें एक मृतक-पुत्रका निर्जीव-शरीर!

घंटों हो गए, पर रानी न उठी, अपने स्थानसे चिगी तक नहीं! निर्जीव हो, पत्थरकी पुतली हो, या मिट्टीका ढेर!

साथी आए और जैसे-तैसे कर डेरे पर ले गए! उसी जड़ताके ढंगमें!

नहीं कहा जा सकता—अब चैतन्य है वह, या तब जड़ थी?

× × × ×

[४]

आँखें लाल हैं, शरीर तप रहा है! बुखारकी तेज़ी है! रानी गुम-सुम पड़ी हैं! किसीसे बोलती-चालती नहीं! खाना-पीना तक छूट गया है! केवल दूध उसका जीवन रक्षक बन रहा है।

शामको बुखार जब ढीला पड़ता है, बोल सकनेकी

ताक़त जब उसमें हो आती है! तब वह बैठ जाती है, उपदेशककी तरह! और कहने लगती है—अपने दिलका दर्द, मानसिक-पीड़ाका अध्याय!—

'किसीको मारो मत! उसके शरीरमें भी दर्द होता है, उसके माँ-बाप भी बेचैन होते हैं, उन्हें तकलीफ़ होती है! जान सबकी बराबर है!'

बिल्लोची सुनते तो दंग रह जाते। कुछ कहते—'लड़की कहती तो ठीक है!' पर कुछकी राय होती—'बुखार-बीमारीसे दिमाग़ फिर गया है! नहीं, ऐसी बातें यह सीखी कहाँ? क्या हम नहीं हैं, सफ़ेद बाल हो चुके, इन बातोंको छुआ तक नहीं!' कोई कहता—'पिछले दिन तक तो यह भी परिन्दे मार-मार कर राँधा करती थी, आज कहती है—किसीको मारो मत! भई, खूब!'

रानी जब ऐसी बातें सुनती तो उसका मन और भी टूट जाता! वह खाट पर लेटी-लेटी सोचती रहती—'क्या, ये भी मनुष्य हैं?'

और उसका बुखार ज़ोर पकड़ जाता! माँ सिराहने बैठी-बैठी आंसू बहाती, मिन्नतें मनाती—'मेरी रानी बच जाय!'

और बाप, दवाएँ लाता, जड़ी-बूटी खोजता-फिरता! डाक्टर-हकीमके आगे दयाकी भीख माँगता, गिड़गिड़ाता, रोता-कलपता!

किसी तरह रानी बच जाय!

उसे हो क्या गया?....

डाक्टरने बताया—'इसका दिल कमज़ोर हो गया है? मानसिक-पीड़ा है—इसे! यह जो चाहे, इसे वही दो! इसके हृदयपर कुछ असर हुआ है, तुम लोग इसके हृदय को न दुखाओ!'

हँय!!!

सब चौंके!

डाक्टर कहता है-'हृदयको न दुखाओ!'

रानी कहती है—'किसीको मारो मत, उन्हें भी तकलीफ़ होती है!'

बातें दोनों एक हैं—ज़रा भी फ़र्क नहीं! अजीब समस्या है!

रानीकी तन्दुरुस्तीके लिए, ज़िन्दगीके लिए—सबने उसका हुक्म मानना मंजूर किया!

× × × ×

जिसने सुना, वही हैरतमें आगया—बिल्लोचियोंका क़ाफ़ला निरामिषभोजी है! वे शिकार नहीं करते, माँस नहीं खाते! दूसरेके बच्चेको अपना माननेमें सुख पाते हैं!

और रानीको वे अपना 'गुरु' मानते हैं, देवी मानकर पूजते हैं, अवतार जान कर उसका आदर करते हैं! रानी है उनकी मार्ग-प्रदर्शिका!

रानीमें फिर ताज़गी लौट आई है! वह प्रफुल्लित रहती है! उसे ऐसा लगने लगा है कि उसका बच्चा उसे इन्सानियत-मानवता सिखाने आया था, तीन सालमें वह सब-कुछ पढ़ा-लिखा गया! उसकी आत्मामें रोशनी भर गया!

अब, जब उसे अपने बच्चेकी याद आती है, तो उसी वक्त उस कबूतरके बच्चेका चित्र भी आँखोंके आगे हो आता है?

और रानीका कोमल-मन पिघल कर आँसू बन जाता है!

× × × ×

[५]

अवश्य कहा जा सकता है—कठोर-से-कठोर, कसाई-कर्ममें निरत रहने वाले व्यक्तिके हृदयमें भी 'दया' नामकी कोई चीज़ रहती है फ़िर भले ही उसके प्रकारमें भेद हो, तरीकेमें तब्दीली हो! कम-ज़्यादह हो!

दयाका ही दूसरा नाम है—मानवता!!!

और यों दया सार्वधर्म है, इसमें शक नहीं!

नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय

(ले० पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य)

[गत किरणसे आगे]

सुराष्ट्र देशकी उर्वरा पृथ्वीका वर्णन करते हुए कविराज लिखते हैं—

> विराजमानामृषभाभिरामै—
> ग्रामैर्गरीयो गुणसंनिवेशाम् ।
> सरस्वतीसंनिधिभाजमुर्वि
> ये सर्वतो घोषवतीं वहन्ति ॥३३॥

'जो सुराष्ट्र देश, बैलों-द्वारा मनोहर ग्रामोंसे शोभायमान, गुरुतर गुणोंके संनिवेश-रचना या विस्तार से सहित, सरस्वती—नदियोंके सामीप्यको प्राप्त और गोपवसतिकाओंसे युक्त पृथ्वीको सब ओरसे धारण करते हैं।'

यह तो हुआ प्रकृत अर्थ, अब अप्रकृत अर्थ देखिये, जो कि श्लोकगत समस्त पदोंके द्व्यर्थक होने के कारण स्पष्टरूपसे प्रतिभासित हो रहा है—।

"जो सुराष्ट्र देश, ऋषभ नामक स्वर विशेषसे सुन्दर, ग्राम—स्वरोंके समुदायसे विराजित, गुरुतर—श्रेष्ठ अथवा बड़ी बड़ी तन्त्रियोंके सनिवेशसे युक्त, तथा सरस्वती देवीके समीपमें स्थित—उसके हाथमें विलसित मनोहर शब्दयुक्त, विशाल, घोषवती—वीणा को धारण करते हैं—जिस देशके मनुष्य हर एक प्रकारकी चिन्ताओंसे विनिर्मुक्त हो हाथमें वीणा धारण कर संगीत सुधाका पान करते हैं'।

यहां प्रकृत और अप्रकृत अर्थोंमें असंगति न हो इसलिये 'वीणाके समान पृथिवीको धारण करते हैं' यह उपमालंकार व्यङ्ग्यरूपसे निकाला गया है। श्लोकगत समस्त पदोंका श्लेष-सलिल उस उपमा-लताका सिञ्चन करता है। अथवा जो देश 'घोषवती—वीणा रूप पृथ्वीको धारण किये हुए' यह रूपकालंकार भी माना जा सकता है। उस रूपककी सौन्दर्य-वृद्धि भी श्लेषके द्वारा ही हो रही है। इस प्रकार कविराजने सुराष्ट्र देशके वर्णनमें अपने काव्य-कौशल का अनुपम परिचय दिया है।

समुद्रके बीचमें द्वारावती पुरीका वर्णन करते हुए कविराजने श्लिष्टोपमाका कितना सुन्दर उदाहरण तयार किया है ? देखिये—

> परिस्फुरन्मण्डलपुण्डरीक—च्छायापनीतातपसंप्रयोगैः ।
> या राजहंसैरुपसेव्यमाना, राजीविनीवाम्बुनिधौ रराज ॥३७॥

'जो नगरी समुद्रके मध्यमें कमलिनीके समान शोभायमान होती है। जिस प्रकार कमलिनी, विकसित पुण्डरीकों—कमलोंकी छायासे जिनकी आतप-व्यथा शान्त हो गई है ऐसे राजहंसों[1]—हंस विशेषों से सेवित होती है; उसी प्रकार वह नगरी भी तने हुए विस्तृत—पुण्डरीक—छत्रोंकी छायासे जिनकी आतप व्यवस्थासे सब दुःख दूर हो गये हैं ऐसे राजहंसों—बड़े बड़े श्रेष्ठ राजाओंसे सेवित थी—उसमें अनेक राजा-महाराजा निवास करते थे।

उत्प्रेक्षाका एक सुन्दर नमूना भी देखिये—

---

१ 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' जिनकी चोंच और चरण लाल हो और शेष समस्त शरीर सफेद हो ऐसे हंसोंको राजहंस कहते हैं।

एवं विधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन ।
छायाच्छलादच्छजले पयोधौ प्रचेतसा या लिखितेव रेजे ।३८

'स्वच्छ जलसे युक्त समुद्रमें द्वारावतीका जो प्रतिविम्ब पड़ रहा था, उससे ऐसा मालूम होता था कि जलदेवता वरुणने, 'मैं भी अपनी राजधानीको इसीके समान सुन्दर बनवाऊँगा' इस कुतुहलसे मानों एक चित्र खींचा हो।'

द्वारावती नगरी की स्त्रियोंका वर्णन देखिये—

चन्द्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशैरतिहारिहारैः ।
भूमिश्च चापाकृतिभिर्विरेजुः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः ३९

जहां पर स्त्रियां कामदेवकी अस्त्रशालाके समान शोभायमान होती थीं। क्योंकि स्त्रियाँ अपने कानोंमें जो मणिनिर्मित कर्णफूल पहिने हुई थीं वे चक्र—आयुध विशेषके समान मालूम होते थे, जो सुन्दर हार पहिने हुई थीं वे कामदेवके पाश—बन्धन रज्जुके समान मालूम होते थे और जो उनकी प्रणय-कोपसे वंक भौंहें थीं वे धनुषके समान मालूम होती थीं'।

यहां उपमालंकारकी विचित्रता और 'शाला' 'बाला' का अनुप्रास दर्शनीय है।

'रात्रिके प्रथमभागमें चन्द्रमाका उदय होता है पूर्व दिशामें लालिमा छा जाती है, थोड़ी देरमें पूर्व दिशासे आगे बढ़ कर चन्द्रमा आकाशमें पहुँच जाता है जिससे उसका प्रतिविम्ब द्वारावती नगरीके मणि-निर्मित भवनोंमें पड़ने लगता है' इस प्रकृतिके सौन्दर्य का वर्णन कविराजकी अनूठी लेखनीसे कितना सुंदर हुआ है ? देखिये—

प्राचीं परित्यज्य नवानुरागा—मुपेयिवानिन्दुरुदारकान्तिः ।
उच्चैस्तनीं रत्ननिवासभूमिं, कान्तां समाश्लिष्यति यत्र नक्तम् ॥

जहाँ पर रातके समय उत्कृष्ट कान्तिवाला चन्द्रमा, नूतन अनुराग लालिमासे अलंकृत पूर्व दिशाको छोड़ कर अत्यन्त उन्नत और मनोहर रत्न-निर्मित महलों की भूमिका आश्लेषण करता है'।

यहाँ पर कविने समासोक्ति अलंकारसे यह भाव व्यक्त किया है—'जैसे कोई उत्कट इच्छा वाला—दक्षिण नायक, नवीन अनुराग-प्रेमसे सम्पन्न स्त्रीको छोड़ कर, उन्नत स्तन वाली किसी अन्य कान्ता स्त्री का आश्लेषण करने लगता है उसी प्रकार चन्द्रमा, नवानुरागसे युक्त प्राचीको छोड़ कर द्वारावतीकी उच्चैस्तनी उन्नत, रत्न निर्मित निवास-भूमिका आलङ्गन करता था—उसमें प्रतिविम्बित होता था ।

यहाँ समासोक्ति अलंकार तथा उसके द्वारा प्रकट होने वाली सम्भोगशृङ्गार नामक रसध्वनि सहृदय-जन-वेद्य है।

'अनुराग', 'उदारकान्ति', 'उच्चैस्तनी', तथा 'कान्ता' शब्दके श्लेषने, 'नक्तम्' इस उद्दीपक, विभाव-सूचक पदने, 'प्राची' तथा 'रत्न निवासभूमि' शब्दके स्त्रीत्वने एवं 'इन्दु' शब्दके पुंस्त्वने इस श्लोकके सौन्दर्य-वर्धनमें भारी हाथ बटाया है।

परिसंख्या अलंकारका एक नमूना देखिये—

प्रकोपकम्पाधरबन्धुराभ्यो—भयं वधूभ्यस्तरुणेषु यस्याम् ।
कर्पूरकालेयकसौरभाणां, प्रभञ्जनः पौरगृहेषु चौरः ॥ ४२ ॥

'जिस द्वारावती नगरीमें रहने वाले युवा पुरुषों को यदि भय होता तो सिर्फ प्रणयकोपसे कँपते हुए अधरोष्ठोंसे शोभित अपनी स्त्रियोंसे ही होता था—अन्य किसीसे नहीं। इसी तरह नागरिक नरोंके घरों में यदि कोई चोर था तो सिर्फ पवन ही कपूर और कालागुरु चन्दनकी सुगन्धिका चोर था और कोई चोर नहीं था।'

यहाँ कविने यह बतलाया है कि उस नगरीका शासन इतना सुदृढ़ और सुसंगठित था कि उस पर बाहिरसे अन्यशत्रुओंके आक्रमणकी जरा भी आशंका नहीं रहती थी तथा वहाँके लोग आजीविका

आदिसे इतने सुखी थे कि कभी किसीको किसी दूसरे की वस्तुको चुरानेकी इच्छा नहीं होती थी—जो जिस वस्तुको पाना चाहता था उसे वह वस्तु अनायास-स्वयमेव प्राप्त हो जाती थी।

यह वर्णनीय वृत्त साधारण है परन्तु कविके परिसंख्या अलंकारने उसकी शोभाको बहुत मोहक बना दिया है।

सुगन्धिनः संनिहिता मुखस्य, स्मितद्युता विच्छुरिता वधूनाम्।
भृङ्गा बभुर्यत्र भृशं प्रसून—संक्रान्तरेणूत्करकर्बुरा वा ॥४१॥

स्त्रियोंके मुखोंकी सुगन्धिके कारण जो भौंरे उनके पास पहुँच जाते थे वे भौंरे उन स्त्रियोंकी मुसकानकी सफेद कान्तिसे व्याप्त होनेपर ऐसे मालूम होते थे, जैसे मानों फूलोंके परागके समूहसे कर्बुर—चित्र विचित्र हो गये हों'।

यहाँ तद्गुण तथा उत्प्रेक्षाका संकर दर्शनीय है।

सुभ्रू युगं चंचलनेत्र वाहं, यस्यां स्फुरत्कुण्डल चारु चक्रम्।
आरुह्य जातस्त्रिजगद्विजेता, वधूमुखस्यन्दनमङ्गजन्मा ॥ ४२॥

'जो, उत्तम भौंह रूप युग-जुंवारीसे सहित हैं (पक्षमें उत्तम भौंहोंके युगलसे सहित हैं) चञ्चल नेत्र रूप बाहो—घोड़ोंसे युक्त हैं (पक्षमें चञ्चल नेत्रोंको प्राप्त है) और जो कुण्डल रूपी सुन्दर चक्र—आयुध विशेषसे शोभित हैं (पक्षमें चमकते हुए कुण्डलोंकी चारु परिधिसे सहित हैं)—ऐसे स्त्रीके मुखरूपी रथ पर आरूढ़ होकर कामदेव जिस द्वारावती नगरीमें तीनों लोकोंका जीतने वाला बन गया था।'

यहाँ 'युग' 'वाह' और 'चक्र' शब्दके श्लेषसे अनुप्राणित वधू मुख और स्यन्दन-रथका रूपक विशेष दर्शनीय है।

लोग कहते हैं कि कवियोंके सामने कोई भी वस्तु असंभव नहीं है—वे अपनी कल्पनासे असंभव वस्तु को भी संभव कर दिखाते हैं। यही बात है कि कवि-राज भी आगेके श्लोकमें आकाशगत सुवर्ण कमलों का संभव कर दिखाते हैं। देखिये—

यत्रेन्दुपादैः, सुरमन्दिरेषु, लुप्तेषु शुद्धस्फटिकेषु नक्तम्।
चक्रे स्फुटं हाटककुम्भकोटि—र्नभस्तलाम्भोरुहकोशशङ्काम्॥

'द्वारावती नगरीमें रातके समय, निर्मल स्फटिक-मणियोंके बने हुए देवमन्दिर चन्द्रमाकी सफेद किरणों द्वारा लुप्त कर लिये जाते थे—सफेद मंदिर सफेद किरणोंमें तन्मय होकर छिप जाते थे, सिर्फ उन मन्दिरोंके सुवर्ण-निर्मित पीले पीले कलशे दिख-लाई पड़ते थे उनसे यह स्पष्ट मालूम होता था कि आकाशमें सुवर्ण-कमल फूले हुए हैं। (भावानुवाद)

श्लेष और उत्प्रेक्षाके संवर—मेलका उदाहरण देखिये—

यमैक वृत्तेर्घन वाहनस्य, प्रचेतसो यत्र धनेश्वरस्य।
व्याजेन जाने जयिनो जनस्य, वास्तव्यतां नित्य मगुर्दिगीशाः॥

'उस द्वारावतीके रहने वाले मनुष्य यमैकवृत्ति थे—अहिंसा आदि यम-व्रतोंको धारण करने वाले थे (पक्षमें यमराजकी मुख्य वृत्तिको धारण करने वाले थे) घनवाहन थे—अधिक सवारियोंसे युक्त थे (पक्षमें इन्द्र थे), प्रचेतस थे—प्रकृष्ट-उत्तम हृदयको धारण करने वाले थे (पक्षमें वरुण थे) और धनेश्वर थे—धनके ईश्वर थे (पक्षमें कुबेर थे) इसलिये मैं समझता हूं कि वहांके मनुष्योंके छलसे चारों दिशाओंके दिक्पालोंने उस नगरीको अपना निवासस्थान बनाया था।'

[दक्षिण दिशाके स्वामीका नाम यम, पूर्व दिशा के स्वामीका नाम घनवाहन-इन्द्र, पश्चिम दिशाके स्वामीका नाम धनेश्वर—कुबेर है]।

इस प्रकार कविराजने बहुत ही सुन्दर रीतिसे

अनेक श्लोकोंमें द्वारावती नगरीका वर्णन किया है। स्थानाभावके कारण खास खास श्लोकोंका ही परिचय दिया जा सका है। इसके आगे राजा समुद्रविजयका वर्णन देखिये—

यदर्धचन्द्रापचितोत्तमाङ्गैरुद्दण्डदोस्ताण्डवमादधानैः।
विद्वेषिभिर्दत्तशिवाप्रमोदैः, कैःकैर्न दध्रे युधि रुद्रभावः ॥६१

'राजा समुद्रदत्ताके बाणोंसे जिनका मस्तक कट गया है, जो बचावके लिये अपनी उद्दण्ड भुजाओंको फड़फड़ा रहे हैं तथा भक्ष्य सामग्री प्राप्त होने पर जिन्होंने शिवा—शृगालियोंके लिये हर्ष प्रदान कियाहै—ऐसे कौन कौन शत्रुओंने युद्धमें रुद्रभाव—क्रूरभाव—को धारण नहीं किया था ? अर्थात् सभीने किया था।'

'जिनके मस्तक अर्धचन्द्रसे पूजित हैं, जो अपनी भुजाओंसे उद्दण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं, तथा जिन्होंने पति होनेके कारण शिवा—पार्वतीको हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन कौन शत्रुओंने युद्धमें रुद्रभाव—महादेवपनेका धारण नहीं किया था ? अर्थात् सभीने किया था।'

यहाँ क्रमसे लिखे हुए प्रकृत और अप्रकृत अर्थोंका कितना सुन्दर श्लेष है और उससे प्रकट होनेवाला 'रुद्रभावः रुद्रभाव इव' यह उपमालंकार कविके जिस काव्यकौशलको प्रकट कर रहा है वह प्रशंसनीय है।

द्वे कौतुके हन्त यदातपत्रच्छायातलस्थायिनि भूतलेऽस्मिन्।
संतापमापद्यदसाधुवर्गों, यद्वृष्टिरप्यस्खलिता बभूव ॥६३॥

'महाराज समुद्र विजयकी छत्रछायाके नीचे रहने वाले भूमितलपर दो आश्चर्यजनक कौतुक हुए थे। पहला यह कि दुष्टमानव-समूहने सन्तापको पाया था और दूसरा यह कि वर्षा भी अप्रतिहत—बेरोक टोक रूपसे हुई थी।'

जो मनुष्य छायाके नीचे स्थित होता है उसे धूप तथा जलवृष्टिकी बाधा नहीं होतीपरन्तु यहां महाकविने, समुद्रविजयकी छत्र छायाके नीचे स्थित उन दोनों बाधाओंको बतलाया है जिससे विरोधालंकार अत्यन्त स्पष्ट होगया है। किन्तु उनकी शासन-व्यवस्थामें दुष्ट मनुष्योंका निग्रह होता था इसलिये दुष्टोंको दुःख होता था, तथा हमेशा शान्ति हवन आदि होते रहनेके कारण समय समय पर जलवर्षा होती रहती थी, यह अर्थ लेने पर कोई विरोध शेष नहीं रह जाता।

यहां वर्णनीय वस्तुमात्र इतनी है कि 'राजा समुद्रविजयके राज्यमें दुष्टोंका निग्रह होता था और वर्षा भी समयपर हुआ करती थी।'

परन्तु कविने विरोधालंकारकी पुट देकर उसे कितना सुन्दर बना दिया है !

महाराज समुद्रविजयने शत्रु-राजाओंको अबल-निर्बल बना दिया था, इसका वर्णन देखिये—

[1]हालापदूरीकृत-कोपलज्जाः सन्नाभिमानास्तनवप्रभावाः।
मन्त्रप्रयोगादबलाः सहेलं येनाक्रियन्त प्रतिपक्षभूपाः ॥६४॥

'हा, हा, इस प्रकार दुःखसूचक शब्दोंद्वारा जिनका कोप और लज्जा दूर होगई है, जिनका अभिमान नष्ट होगया है, और नवीन प्रभाव अस्त होगया है ऐसे शत्रुराजाओंको राजा समुद्रविजयने अपने मन्त्र-बल—सद्विचारणाके बलसे निर्बल बना दिया था।'

[राजाने उन्हें निर्बल बना दिया था इसलिये उनकी ऊपर लिखी हुई अवस्था हो गई थी।]

'हाला मदिराके द्वारा जिनका कोप और लज्जा दोनों दूर होगई हैं तथा सुन्दर नाभिके मानसे जिन्होंनेनव-तरुण पुरुषोंके प्रभावको—धैर्यको—नष्ट कर दिया है ऐसे शत्रुओंको राजा समुद्रविजयने अपने मन्त्र तन्त्रके प्रयोगसे अबला—स्त्री बना दिया था—यह आश्चर्यकी बात है !

यहाँ श्लेष तथा उससे उत्पन्न हुए विरोधाभास अलंकारकी सुन्दरता कविके अनोखे काव्य-कौशलको प्रकट कर रही हैं। (क्रमशः)

---

१ 'हा' इत्यालापेन दूरीकृते कोपलज्जे यैस्ते, हालया मद्येनापदूरीकृते कोपलज्जे याभिस्ताः। सन्नोऽभिमानो येषां ते, अतएवास्तो नवः प्रभावो येषां ते, सुन्दरनाभेर्मानेन अस्तो नवानां यूनां प्रभावो-धैर्यरूपो याभिस्ताः। यद्वा सन्नोऽभिमान आ समन्तात्स्तनोच्चत्वं यासां ताः। यद्वा सुन्दरो नाभिमानो यासां ताः, स्तनयोर्वप्रभाव उच्चता यासु ताः।

उपाध्याय पद्मसुन्दर और उनके ग्रन्थ

(ले०—श्रीअगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तकी गत २-४-५ किरणोंमें "राजमल्लका पिंगल और राजाभारमल्ल"* शीर्षक सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें (किरण २ पृ० १३७) मोहनलाल दलीचंद देशाइ लिखित 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' के आधार पर पद्मसुन्दर-रचित 'रायमल्लाभ्युदय' का उल्लेख किया गया है। देशाइजीने पद्मसुन्दरको दि० भट्टारक बतलाया है, पर वास्तवमें यह सर्वथा गलत है†। ये पद्मसुन्दर नागपुरी तपागच्छके विद्वान थे और सम्राट अकबरसे आपका काफी सम्बन्ध रहा है। हमें इनके कतिपय नवीन ग्रंथ भी मिले हैं, अतः इस लेखमें उनका यथाज्ञात परिचय दिया जा रहा है।

नागपुरीय तपागच्छकी पट्टावलि‡ में आपका परिचय इस प्रकार दिया है:—"धुरंधर पंडित पद्मसुन्दर उपाध्यायका सम्राट अकबरसे घनिष्ट सम्बन्ध एवं परिचय था। सम्राट आपकी विद्वत्ताको अच्छी तरह जानता था। एक बार एक ब्राह्मणने दिल्लीमें सम्राट अकबरके समक्ष गर्वित होकर कहा कि मेरे समान इस कलिकालमें कोई विद्वान नहीं है। यह सुनकर सम्राटने उपाध्याय पद्मसुन्दरजीको शीघ्र बुलवाया। उपाध्यायजीने शीघ्र ही आकर सम्राट्के समक्ष तर्कमें उस ब्राह्मणको परास्त कर दिया। इससे सम्राट् अकबर उनके मंत्री और सभासदवर्ग सभी बहुत प्रसन्न हुए। पद्मसुन्दरजीको सम्राट्ने पहिरामणी कर सुखासनादि प्रदान किये और आगरेमें धर्मस्थान बनवा दिया। उनकी इस विजयसे नागपुरीय तपागच्छकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। उपाध्यायजी वाद करनेमें बड़े कुशल थे। इन्होंने 'प्रमाणसुन्दर' नामक न्याय-ग्रंथ, रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य, पार्श्वनाथ काव्य एवं प्राकृतमें जम्बूस्वामी कथा इत्यादि ग्रंथोंकी रचना की है।

"सूरीश्वर और सम्राट्"* में लिखा है कि—श्री हीरविजयसूरिजी सम्राट् अकबरसे मिले थे, तब वार्तालापके अन्तर सम्राट् अकबरने अपने पुत्र शेखजीके द्वारा अपने यहांके पुस्तकालयका ग्रंथ-संग्रह मँगवाकर सूरिजीके समक्ष रखा। तब सूरिजीने सम्राट्से पूछा कि आपके यहां इतने जैन एवं जैनेतर ग्रंथोंका संग्रह कहांसे आया? सम्राट्ने उत्तर दिया कि हमारे यहां उपाध्याय पद्मसुन्दर नामके नागपुरीय तपागच्छके विद्वान साधु रहते थे। वे ज्योतिष, वैद्यक और सिद्धान्तशास्त्रमें बहुत निपुण थे, उनके स्वर्गवास† होजाने पर मैंने उनकी पुस्तकोंको सुरक्षित रखा है। अब आप कृपया इन ग्रंथोंको स्वीकार करें।

हर्षकीर्तिसूरि-रचित धातुपाठवृत्ति—धातुतरंगिणीकी प्रशस्तिसे पट्टावली उल्लिखित शाहि सभामें वाद-विजयके अतिरिक्त जोधपुरके नरेश मालदेवके आप मान्य थे आदि प्रतीत होता है। यथा:—

साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापंडितं।
क्षौम-ग्राम-सुखासनाद्यकबर श्रीसाहितो लब्धवान् ॥
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो-वदान्योधिकं।
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयं पाठकं ॥१०

(हमारे संग्रहकी प्रति)

सं० १६२५ मि० व० १२ को तपागच्छीय बुद्धिसागरजीसे खरतर साधुकीर्तिजीकी सम्राट्की सभामें पौषधकी चर्चा हुई थी और साधुकीर्तिजीने विजय प्राप्त की थी। उस समय पद्मसुन्दरजी आगरेमें ही थे, ऐसा हमारे द्वारा सम्पादित

---

*विशेषके लिये देखें भारमल्ल-पुत्रकारित वैराटमंदिर-शिला-लेख सानुवाद, प्र० जैन सत्यप्रकाश वर्ष ४ अंक ३ से ६; एवं प्राचीन जैनलेखसंग्रह लेखाङ्क ३७९। भारमल्लकी कीर्तिके कइ कवित्त 'श्रीमालीवाणिओनोज्ञातिभेद' में छपे हैं।

† देशाइजीने उनकी जो गुरुपरम्परा रायमल्लाभ्युदयमें बतलाई है ठीक वही 'सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव' आदिमें भी है, अतः दोनों एक ही नागौरी तपागच्छके है।

‡ जैनयुवकमंडल, अहमदाबादसे प्रकाशित (गुजराती)

*गुजराती संस्करण पृ० १२०

† हीरविजयसूरि सम्राट् अकबरसे सं० १६३९ में मिले थे। अतः पद्मसुन्दरजीका स्वर्गवास इससे पूर्व होना निश्चित होता है।

'ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह' के पृ० १४० में प्रकाशित 'जइतपदवेलि' से स्पष्ट है।

उपाध्याय पद्मसुन्दरजीके ग्रंथ—

हमारे अन्वेषणसे उपाध्याय पद्मसुन्दरजीका "श्रृंगारदर्पण" नामक ग्रंथ मिला है, उससे सम्राट् अकबरके साथ आपका घनिष्ट सम्बन्ध भलीभांति प्रमाणित होता है। यह ग्रंथ सम्राट् अकबरके लिये ही बनाया गया था। अतः इस का नाम "अकबरशाहिश्रृङ्गारदर्पण" रखा गया है। साहित्य संसारमें अद्यावधि इस ग्रंथका कोई पता नहीं था। सर्वप्रथम हमें इस ग्रंथकी अपने हस्तलिखित अपूर्ण ग्रंथोंमें एक प्रति मिली। फिर पं० दशरथ जी M. A. से ज्ञात हुआ कि इसकी एक पूर्ण प्रति बीकानेर-स्टेट-लाइब्रेरीमें भी है। अतः स्टेट-लायब्रेरीके समग्रकाव्यग्रंथोंको दो दिन तक टटोलने पर सबसे अन्तके बंडलमें उसकी प्रति प्राप्त हुई। नीचे इन दोनों प्रतियोंके परिचयके साथ ग्रन्थका परिचय दिया जा रहा है—

१ अकबरशाहिश्रृंगारदर्पण—इस ग्रंथमें चार उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः ६८, ७६, ८६ और ९८ पद्य हैं, आदिअंत इस प्रकार है:—

आदि—यद्भासा सकलं विभाति दुर्ल्लक्षाम् श्वगिदशा।
यस्मिन्नोतमिदं हितं तु मणिवश्यत्यं सदा शाश्वतं।
यत्परि तमसः स्थितं च रहयानित्याद्वयं तत्परम्।
ज्योतिः साहिशिरोमणे अकबर त्वाम् सर्वा दैवावतात्

× × × ×

अंत्यः—अनेन पदचातुरी नियतनायिकालक्षणा।
स्फुरन्नवरसोल्लास व (वि !) णिमप्रबंधेन तु।
अनंगरससंगप्रथितमानमुद्रावतीं।
प्रसादयतु भामिनीमकबरे स्वरोहर्निशा ॥९७॥
यद्यस्ति काव्यरचनासु रुचिर्विदग्धा—
नानारसेषु रसिकत्व-कुतूहलं च।
तत्पद्मसुन्दरकविग्रथितं सुरम्यं,
श्रृंगारदर्पणमुपाद्धमदुष्टचिन्ता ॥ ९८ ॥

इति सकलकलापारीण रसिकसाम्राज्यधुरीण श्रीअकबरसाहिश्रृंगारदर्पणे चतुर्थउल्लासो। यादृशं इत्यादि। ले० सं० १६२६ वर्षे आषाढमासे कृष्णपक्षे अष्टम्यां तिथौ भौमवासरे पातिसाह श्रीअकबरराज्ये। आगरामध्ये। भ० श्रीचंद्रकीर्तिसूरिपट्टे भ० श्री श्रीश्री मानकीर्तिसूरि विद्यमाने पं० चउहथ शिष्य वीराह्वेन लिखितं स्ववाचनाय श्रृंगारदर्पण काव्यग्र० ६०० ।श्री।

भिन्नाक्षरप्रशस्ति—

चतुः श्रृंगस्त्रिपादश्च द्विशीर्षो सप्तहर्षवान।
त्रिधावद्धो महान् देवो, वृषभोरौरवीतिवै ॥१॥
मान्यो वा ''भुमुजोल्लजघराट् तद्वत् हुमायूं नृपो।
ऽत्यर्थं प्रीतमनः सुमान्य ककोदानन्दरायाऽभिधं।
तद्वत्साहिशिरोमणेरकबरक्ष्मापालचूडामणे।
मान्यः पंडितपद्मसुन्दर इहाऽभूत् पंडितव्रातजित ॥२॥
चंद्रप्रभः श्रीप्रभुचंद्रकीर्त्तिसूरीश्वरश्चंद्रकलाब्धिचंद्र।
चंद्रोज्वलश्लोकभरः सुखवश्चंद्रार्क तारावधि मातनोतु॥
नागपुरीय तपागणराजः श्रीचंद्रकीर्त्तिसूरीश्वरा।
तच्छिष्य हर्षकीर्तिसूरिः समलेखय (स्वार्थं)। ४
कल्याणविपुलं भूयात् ए विपरीत रते स्वशीकृता।
दरहासातिमनो रमो नानाविधवाधवसंगतां स्मिर युद्धे विजितोप्य चापलं ॥ १ ॥

प्रतिपरिचयः—

A बीकानेर स्टेट लायब्रेरी—१६ पत्रकी प्रति है। प्रत्येक पृष्ठमें पंक्तियें १२ से १४ और प्रति पंक्ति अक्षर ४५ से ४६ तक हैं। प्रति सं १६२६ अर्थात् रचनाकालके करीब की लिखी हुई है।

B हमारे संग्रहमें—पत्र २ से १३ तककी अपूर्ण प्रति है। प्रथम सर्गकी २२ वीं गाथासे प्रारंभ होकर चौथे सर्गकी २० गाथा तक सम्बन्ध है। प्रति १६ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध की लिखित प्रतीत होती है।

२ सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव—इस ग्रन्थमें ५ तरंग हैं, जिनके समग्र पद्योंकी संख्या २६६८ (ग्रंथाग्रंथ ३१७८) है। यह एक कोष ग्रंथ है।

आदि—यच्चांतर्व्वहिरात्मशक्तिविलसच्चिद्रूपमुद्रांकितं।
स्यादित्थं ततदित्यणेह विषयाः ज्ञानप्रकाशोदितं
शब्दभ्रान्तितमः प्रकांडवदनव्रध्नेन्दुकोटिभ्रमं।
वंदे निवृत्तिमार्गदर्शनपरं सारस्वतं तन्मठं ॥१॥

× × × ×

अंत्यः—आनंदोदयपर्व्वतैकतरणो रानंदमेरोगुरौ।
शिष्य पंडितमौलिमंडनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः।

[शेषांश पृष्ठ ४७६ पर पढ़िये]

श्रीजैनमन्दिर सेठका कूँचा देहलीके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची

देहली सेठके कूँचेके जैनमन्दिरमें भी हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा भण्डार है। इस शास्त्रभण्डारका प्रबन्ध प्रायः पं० महबूबसिंहजीके हाथमें है, जो स्वभावके बड़े सज्जन हैं और हमेशा ग्रन्थावलोकन करने वालोंको अवलोकनकार्यमें यथेष्ट सुविधा देते रहते हैं। यहाँ भी ग्रन्थ अलमारियोंमें अच्छी व्यवस्थाके साथ विराजमान हैं—लटकती हुई गत्तेकी पट्टियों पर प्रत्येक वेष्ठनमें पाये जाने वाले ग्रन्थोंके नम्बर तथा नामादिक अंकित हैं। ग्रन्थसूची यद्यपि ग्रन्थकर्ताके नामादि सम्बन्धी अनेक त्रुटियोंको लिये हुए है, फिर भी उस परसे ग्रन्थोंके निकालनेमें कोई दिक्कत नहीं होती। इस ग्रन्थसूचीकी कापी भी बाबू पन्नालालजी अग्रवालने अपने हाथसे उतार कर मेरे पास भेजी है, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। सूची परसे ग्रन्थप्रतियोंकी संख्या सब मिलाकर १४०० के करीब जान पड़ती है। अनेक ग्रन्थोंकी कई कई प्रतियाँ हैं, इससे ग्रन्थ संख्या ६०० या ७०० के करीब होगी। इसी ग्रन्थसूची परसे कुछ खास खास ग्रन्थोंकी यह सूची तय्यार कराई गई है। इस सूचीमें उन बहुतसे ग्रन्थोंको नहीं लिया गया है—छोड़ दिया है—जो पिछली दो किरणोंमें प्रकाशित नयामन्दिरकी सूचीमें आचुके हैं। साथ ही, सूचीमें ग्रन्थकर्ताके नामोंकी जो त्रुटियाँ थीं और लिपि सम्वतोंका पूर्णतया अभाव था उस सबकी पूर्ति भी ग्रन्थप्रतियों परसे, दो दिन देहली ठहरकर बा० पन्नालालजीके सहयोगसे करदी गई है। फिर भी समयाभावके कारण पिछले कुछ ग्रन्थ जाँचसे रह गये है—उनके लिपि सम्वतोंका नोट नहीं होसका। कुछ ग्रन्थ बाहर गये होनेके कारण भी जाँच तथा नोटसे रह गये हैं। जाँचके समय जिन ग्रन्थोंका रचना-सम्वत् सहज हीमें मालूम होसका है उसे भी नोट कर दिया गया है—शेषको छोड़ दिया है। इस भण्डारमें हिन्दी ग्रन्थोंकी संख्या अधिक है और उनपरसे हिन्दीके कितने ही अज्ञात लेखकों तथा कवियोंका पता चलता है। 'बुद्धिसागर' नामका ग्रन्थ मुसलमान कविकी आजसे ३०० वर्ष पहलेकी हिन्दी रचना है और वह सम्राट् अकबर आदि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक ऐतिहासिक बातोंके उल्लेखको लिये हुए है।

—सम्पादक

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचना सं०	लिपिसंवत्
अकलसार	पं० खूबचन्द	हिन्दी पद्य	११६		१६८५
अजितनाथपुराण	पं० देवदत्त	,,	८६		१६८०
अध्यात्मदोहा	पं० रूपचन्द	,,	४१		
अनगारधर्मामृत (भा. टी.)	पं० आशाधर	संस्कृत-हिन्दी	४५१		१६८४
अनिरुद्धकुमारचरित	भागचन्द श्रावक	हिंदी पद्य	१५		१६८३
अनुत्तरोपपाददशांग (श्वे.,हि.टि.)		प्राकृत-हिन्दी	१२		१८६२
अन्तःकृतदशांग ,,		,,	३५		१८७४
अभिनन्दनपुराण	पं० देवदत्त	हिन्दी पद्य	१६		१६७७
अमरविलास	अमरकवि	,,	४७		
आचारसार (सटिप्पण)	वीरनन्दी	संस्कृत	१६	टि. १६२७	१७७०
आदित्यव्रतकथा	मल्लपुत्र अगरवाल	हिंदीपद्य (१५६)	२७		
उद्यमप्रकाश	कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल	,,	६१		१६८३
उद्धारकोष (मंत्रबीजादिकोष)	दक्षिणामूर्ति (अजैन)	संस्कृत	११		
उपदेशरत्नमाला	भ० सकलभूषण	,,	८६		
उपासकदशांगसूत्र (श्वे.)		प्राकृत	४६		१६३६
ऋषिदत्ताचरित्र (शीलप्रबंध)	देवकलस (पाठकदेवका शिष्य)	हिंदी	१४	१५६६	× (जीर्ण)

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
कर्मचूरसारसंग्रह	पं० हेमराज	हिंदी गद्य	७३		१६०३
कर्मप्रकृति (१६० गाथा)	नेमिचन्द सि० चक्रवर्ती	प्राकृत	११		१६२५
कर्मप्रकृति (श्वे.) टीका	मलयगिरिसूरि	प्रा० सं०	३१८		
करिकंडुचरित	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	६		
करिकंडुचरित	मुनि कनकामर	अपभ्रंश	६५		१५७८
गुणधरचरित्र	पं० नयनानन्द	हिंदी पद्य	४०	१६१६	१६८१
गौतमचरित्र	भ० धर्मचंद्र	,, गद्य	६७		१६८४
चर्चानामावली		,, पद्य	४०		१६५६
चर्चामंजरी	वैद्य शीतलप्रसाद	,, ,,	६	१६५५	
चिकित्सासारसंग्रह (अजैन)	वंगसैन	संस्कृत	७०६		१६२२
चिद्विलास	पं० दीपचंद	हिंदी गद्य	६१	१७७६	१६२६
चेतनविलास	कवि जौहरी	,, पद्य	१३७		१६८१
चेलना रानीकी कथा		,, गद्य	६		
छहढाला	पं० बुधजन	,, पद्य	१४	१८७६	१६२७
जम्बूस्वामिचरित	कवि राजमल्ल	संस्कृत	१०५	१६३२	
जिनगुणविलास	पं० नथमल	हिंदी पद्य	७६	१८२२	
ज्येष्ठजिनवरकथा	पं० खुशालचंद	,, ,,(८४)	१२	१७८२	१६५५
जैनागारप्रक्रिया	त्यागी दुलीचंद	सं० हिंदी गद्य	६०	१६५५	
जैनधर्मसुधासागर		हिंदीगद्य पद्य	३६		१६६७
ज्ञानार्णव चौपई (श्वे.)	लब्धविमलगणी	हिंदी पद्य	६६		
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं० जगतराय	हिंदी गद्य	१५०		
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं० टोडरमल्ल	,, ,,	२२५		
तत्त्वार्थटीका	भ० धर्मचंद्र	संस्कृत	६२	१४८६	
तत्त्वार्थबोध (भाषा)	पं० बुधजन	हिंदी पद्य	११८	१८७६	१६२७
त्रिभंगी पंचक (भा. टी. सहित)	मू० नेमिचंद्र,	प्रा० हिंदी	६३		
त्रिलोकदर्पण	पं० खडगसैन	हिंदी पद्य	६२	१७६४	
दशवैकालिक (श्वे.)		प्राकृत	१६		१८८७
दानशीलतपभावना	अशोक मुनि	,,	६		
दौलतविलास	पं० दौलतराम	हिंदी पद्य	२६		१६५४
द्रव्यप्रकाश	पं० देवचंद्र	,, ,,	३०		१६८५
धर्मकुण्डलिका		,, गद्य	२६		
धर्मचर्चा		,, ,,	१८		१६३२
धर्मचर्चासंग्रह		,, ,,	४३		
धर्मबुद्ध मंत्रीकी कथा	कवि वृन्दावन	,, पद्य	१५		१६८४
धर्मरत्नोद्योत		,, ,,	५७		१६७६

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
धर्मसरोवर	कवि जोधराज	हिंदी पद्य	२३	१७२४	१९८४
धर्मोपदेशरत्नमाला	त्यागी दुलीचंद	,, गद्य	११३		
ध्यानबत्तीसी		,, पद्य	३		
नमोकारग्रन्थ	पं० लक्ष्मीचंद वैनाड़ा	,, गद्य	६८४	वी. २४४६	१९८०
नयचक्र-वचनिका	निहालचंद पुत्र विलासचंद	,, ,,	४६	१८६७	१८७६
नयनसुखविलास	यति नयनसुखदास	,, पद्य	२४५		१९८०
नागकुमारचरित्र	पं० नथमल विलाला	,, ,,	५४	१८३०	१९७६
नाममाला (भाषाकोष)	पं० बनारसीदास	,, ,,	१५	१६७०	१९३२
नारचंद्र (ज्योतिषशास्त्र)	नरचंद्र	संस्कृत	३४		१९३४
नित्यधर्म-प्रक्रिया	त्यागी दुलीचंद	हिंदी गद्य	३८		१९३६
निरयावलि-टीका (श्वे.)		प्राकृत-हिंदी	६१		
नेमिचन्द्रिका	पं० मनरंगलाल	हिंदी-पद्य	२९	१८८०	
पद्मनन्दिपच्चीसी	पं० जगतराय	,,	१०७		१८६१
पद्मप्रभुपुराण	पं० देवीदत्त	,,	२४		१९८०
पंचपरावर्तनचर्चा (वचनिका)		,, गद्य	५		
पंचमीव्रतकथा	भ० सुरेन्द्रनाथ	हिंदी पद्य	९		१९६१
पंचाख्यान चौपई	पं० निर्मलदास	,, पद्य	७१		१९७९
परमानन्दविलास	पं० देवीदास	,, ,,	६३		१९७९
पाशाकेवली भाषा	(गर्गाचार्य कृतिका अनुवाद)	,, ,,			
प्रतिक्रमण सूत्र		प्राकृत	५		
प्रद्युम्नचरित	शाहमहाराज पुत्र रायरछ	हिंदी गद्य	७२		१६९८
प्रद्युम्नचरित (वचनिका)	पं० ज्वालानाथ बखतावरसिंह	,, ,,	२१२	१९१६	१९६९
प्रद्युम्नचरित	कवि बूलचंद	,, पद्य	३७	१८४३	
प्रभंजनचरित		,, गद्य	२३		
प्रश्नमाला		,, ,,	२७		१९८०
प्रश्नसमाधान	पं० बनवारीलाल	,, ,,	२७		
प्रीत्यंकरचरित्र	पं० बखतावरमल	,, पद्य	१९		१९००
बुद्धिसागर	क्यामखानी न्यामतखाँ	,, ,,	१०६	१६९५	१८४०
ब्रह्मगुलालचरित्र	कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल	,, ,,	३२	वी०१६०६	२४५१
भक्तामरस्तोत्र-टीका	मू० मानतुङ्गसूरि, टी० जयचंद	सं०, हिंदी	४१	१८७०	
भावदीपिका		हिंदी गद्य	१४८		१९६९
मदनपराजय (वचनिका सहित)	मू० कवि जिनदेव, स्वरूपचंद	सं०, हिंदी गद्य	६३	टी०१९१८	
मन्मोदनपंचशती		हिंदी पद्य	५८	१९१६	१९७३
मरकतमणिविलास (वचनिका)	पं० पन्नालाल गोधा	,, गद्य	१४४	१९३३	१९७९
मल्लिनाथचरित्र (वचनिका)	भ० सकलकीर्ति, टी. दौलतराम	सं०, हिंदी गद्य	३०		१८२८

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
मल्लिनाथ पुराण (वचनिका)	भ. सकलकीर्तिटी. पं०गजाधरलाल	सं० हिंदी गद्य	७५		१९८०
महावीर पुराण भा. टीका	मूल असगकवि, टी०	हिंदी गद्य	१००		१९७७
मिथ्यात्वखंडन	पं० वखतराम	,,	५५	१८२१	१९७९
मिथ्यात्वनिषेध (वचनिका)	पं० कान्हा भजनी?	,,	३१		
मुक्तिस्वयंवर (भा. टीका)	पं० वेणीचंद्र	सं० हिंदी गद्य	३४४		
मुनिवंशदीपिका	नयनसुख	,,	५	१९२६	
यशोधरचरित्र (वचनिका)		हिंदी गद्य	११९		
योगसार (हिंदी टीका सहित)	मूल जोइन्दु, टी०	अपभ्रंश हिंदी	१९		
रत्नकरण्डश्रावकाचार (चौपई)		हिंदी पद्य	२४	१७७०	१९७६
रत्नत्रयव्रतकथा	ब्रह्मज्ञानसागर	,, ४५	३		
रत्नत्रयव्रतकथा	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	४		
रत्नपरीक्षा	रत्नसागर	हिंदी पद्य			१८७७
रविव्रतकथा	भानुकीर्ति मुनि	,, ४५	५	१६७८	
राजुलपच्चीसी		,,			
लक्ष्मीविलास	पं० लक्ष्मीचंद	,,	१०४		१९७७
वचनकोश	बुलाकीचंद	,,	१३०	१७३७	१८८३
विमलनाथपुराण	पं० कृष्णदास	,, ३०४६	१५९	१६७४	१९८१
विद्यानुशासन (मंत्रशास्त्र)	सुकुमारसेन मुनि	संस्कृत	१२७÷४८		
विद्याविलास (वचनिका)		हिंदी गद्य	२६		१८६३
विद्युत्चोरकथा	पं० अनन्तराय	,, पद्य	१०		
वैद्यवल्लभ (अजैन)	हस्तरुचि	संस्कृत	१२	१७२६	१८८६
वैराग्यपच्चीसी (चौपई)		हिंदी पद्य	११		
षट्कर्मोपदेशमाला (भाषा)	पाँडे लालचंद	,, ,,	७७	आ १८१८	१९०६
सप्तमीकथा	पं० [illegible]	,, ,,	५		१९६२
सप्तमीकथा	पं० खुशालचंद	,, ,,	६		१९७३
सप्तव्यसनचरित्र	पं० भारामल	,, ,,	२११		
समयसार टीका भाषा	पं० अमरचंद पन्नाल	,, गद्य	२६१		
सम्मेदशिखर माहात्म्य	पं० मनसुखसिंह	,, पद्य	६८		
सम्भवपुराण	पं० देवदत्त	,, ,,	१३		
सारस्वतमण्डन (श्वे.)	बाहड पुत्र मंडन	संस्कृत	१११		१६३४
सिद्धान्तसारसंग्रह (वचनिका)	पं० जिनेन्द्रसैन	हिंदी गद्य	२१७		
सिद्धान्तसारोद्धार (वचनिका)	पं० मग्गरुचि	,, ,,	६६		
सीताशतक	पं० भगवतीदास	,, पद्य	२१		
सुखविलास	पं० सुखानंद	,, ,,	१७८		
सुगंधदशमीकथा	ब्रह्मज्ञानसागर	हिंदी पद्य ४४	४		

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
सुगंधदशमी कथा	मकरन्द पद्मावतीपुरवाल	हिंदी पद्य ५४	११		१९६६
,,	पं० खुशालचंद	,, १४४	१०		
,,	पं० भैरोंदास	,, ८४	१८	१७९२	
सुन्दरविलास	पं० सुन्दरदास	हिंदी पद्य	७६		
सुन्दरदासके सवैये	,,	,, ,,	५८		
सुभाषितार्णव (भा० टी०)	दुलीचन्द	,, गद्य	१०४		
सुभाषितसार		,, पद्य	४१		
सुमतिनाथ पुराण	पं० देवदत्त	,, ,,	२६		
सुलोचना चरित्र (भा० टी०)		,, गद्य	५६		
सूतिकाधिकार		सं० हिंदी	१६		१९४७
सोलहकारण व्रत कथा	पं० भैरोंदास	हिंदी पद्य ७१	६	१७९१	
,,	ब्रह्मज्ञानसागर	,, ३७	४		
स्वप्नाध्याय (अजैन)	बृहस्पति	सं० पद्य ४६	४	१६११	
स्वप्नावली (मरुदेवी स्वप्नफल)	देवनन्दी	,, २२	२		
हनुवंत कथा	ब्रह्मरायमल्ल	हिंदी पद्य	७०	१६१६	
हरिवंश पुराण	कवि वाहन	,, ,,	८७		
हितोपदेश वचनिका	पं० अभयचन्द	,, गद्य	३५३		

वीरसेवामन्दिर, सरसावा —— ता०...............

(पृष्ठ ४७१ का शेषांश)

तच्छिस्योत्तमपद्मसुंदर कविः श्रीसुंदरादिप्रकाशां।
तशास्त्र मगीरवत्सहृदयैः संशोधनीयं मुदा ।।६७।।
पदार्थचिन्तामणिचारुसुंदरप्रकाश-
शब्दार्णवनामभिस्तवर्यं।
जगज्जिगीषु ज्जयंतात्सतां मुखे
तरंगरंगो विरणय पंचमः ।। ६८ ।।

इति श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छनमोनमामणि पंडितोत्तम श्रीपद्ममेरुगुरुशिष्यपं०श्रीपद्मसुंदरविरचिते सुंदरप्रकाशे शब्दार्णवेपंचमस्तरंगः पूर्णः तत्समाप्तौपूर्णः श्रीसुंदरप्रकाश ।। सं० १६—।*

*यहां तक ग्रंथोंके जो भी वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे बहुत कुछ अशुद्ध हैं। शायद प्रतियाँ ऐसी ही अशुद्ध लिखी हुई होंगी, परन्तु लेखकने उसका कोई नोट नहीं किया।

—सम्पादक

प्रतिपरिचय—इसकी एकमात्र प्रति पनेचंदजी सिंघी संग्रहसुजान-गढ़में देखनेमें आई है। पत्र ८८, प्रति पृष्ठ पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति अक्षर ४४ के करीब हैं, सरदीके कारण कहीं २ अक्षर नष्ट होगये हैं। कहीं २ पत्र फट गये हैं।

३ प्रमाणसुंदर।
४ रायमल्लाभ्युदय काव्य (सं० १६१५)
५ पार्श्वनाथकाव्य (सं०१६१६ लि०) बीकानेरस्टेट ला०।
६ जंबूचरित्र (बीकानेर ज्ञानभंडार)
७ हामन (यन् ?) सुंदर (ज्योतिषकी, बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी)
८ परमत व्यच्छेद स्याद्वादसुंदरद्वात्रिंशिका (बीकानेर स्टेट ला०
९ षटभाषागर्भित नेमिस्तव गाथा ३० (हमारे संग्रहमें)
१० वरमंगलमालिका स्तोत्र गा० २१ (बी० स्टेट लायब्रेरी)
११ भारती स्तोत्र। (उ० सूरीश्वर सम्राट)

इनके सिवाय और ग्रंथोंका कुछ पता अभी तक मालूम नहीं हो सका।

भाई जयभगवानजी वकीलका सम्मान

इस वर्ष दशलाक्षणिक पर्वके अवसरपर धर्मपुरा देहलीके नये मन्दिरमें भाई जयभगवानजी वकील पानीपतने दस दिनतक शास्त्रसभामें तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर नई शैलीसे अपना प्रवचन किया था—व्याख्यान दिया था, जिसे सुनकर श्रोताजन बहुत प्रसन्न हुए—मुझे भी दो दिन आपका प्रवचन सुननेका अवसर मिला और प्रसन्नता हुई। अतः भादोंकी पूर्णिमाको रात्रिके समय आपके सम्मानमें एक सभा चौधरी ला० जग्गीमलजीके सभापतित्वमें की गई, जिसमें आपके गुणोंका कीर्तन करते हुए भारी आभार प्रदर्शित किया गया और एक सुसज्जित चौखटेके भीतर जड़ा हुआ 'अभिनन्दन-पत्र' श्रद्धाञ्जलिके रूपमें आपको भेंट किया गया। उस समयका प्रेमदृश्य बड़ा ही हृदय-द्रावक था—जनता सुगंधित पुष्पोंकी मालाएँ आपके गलेमें डालती हुई तृप्त नहीं होती थी। इस समय ब्रा० उग्रसेनजी एम०ए० (वकील रोहतक) प्रिंसिपल जैन गुरुकुल मथुराका अच्छा मार्मिक भाषण हुआ था, जिसमें भाई जयभगवानकी शैली, प्रकृति, परिणति, अध्ययनशीलता और वेदों तथा षट्दर्शनादिके साथ तुलनात्मक अध्ययनको बतलाते हुए, उन्हें शास्त्रव्याख्याताके रूपमें चुननेके लिये देहली जैनसमाजके विवेककी प्रशंसा की गई, जिससे दो बड़े लाभ हुए—एक तो अच्छी समझमें आने योग्य भाषामें नई शैलीसे शास्त्रका व्याख्यान सुननेको मिला; दूसरे लगभग हजार रुपयेकी वह रकम बची जो प्रायः हरसाल किसी अच्छे पंडितको बुलानेमें खर्च होजाया करती थी। जनताके अनुरोधपर मैंने भी समयोपयोगी दो शब्द कहे। अन्तमें नम्रता और कृतज्ञतादिके भावोंसे भरा हुआ भाई जयभगवानका भाषण हुआ और उसमें आपकी भावी समाजसेवाओंका भी कितना ही आभास मिला। अस्तु, जो 'अभिनन्दनपत्र' आपको स्थूलाक्षरोंमें भेंट किया गया वह सूक्ष्माक्षरोंमें 'अनेकान्त' के पाठकोंके जाननेके लिये नीचे दिया जाता है।

—सम्पादक

सेवामें, श्रीमान् विद्वद्वर्य धर्मवत्सल पं० जयभगवानजी बी०ए०, एलएल० बी० वकील, पानीपत

श्रीमन् जयभगवान! गुणी-जनके मन-भावन, दर्शनीय विद्वान् परमज्ञानाम्बुज पावन।
तुलनात्मक है दृष्टि नीतिमय वचन तुम्हारे, वीर प्रभूके भक्त धन्य तुम बंधु हमारे॥
स्वार्थ और सम्मानकी नहिं इच्छा तव पास है। अनेकान्तमयि-धर्मका हृदय तुम्हारे वास है॥१
वेद और वेदान्त उपनिषद् मनन करे हैं, पाश्चात्य विज्ञान और सिद्धान्त पढ़े हैं।
षट्दर्शनका तत्व हृदयमें सतत् भरा है, नूतन शैली सहित परम उपदेश करा है॥
तुलनात्मक जिनधर्मका करें विवेचन आप हैं। सबके मापनके लिये स्याद्वादमयि माप हैं॥२
विश्वोद्धारक जैनधर्मके हो व्याख्याता, प्रवचन सुन आनन्द भये हम पाई साता।
जैनजाति-कुलचंद्र विभो, तुम हो उपकारी, पानीपत शुभठाम जहाँ तुमसे सुविचारी॥
सज्जनताकी मूर्ति! हम रखते श्रद्धा आपमें। करते मन-रंजन सभी, तव गुणकीर्ति-कलापमें॥३
की यह हमपर कृपा यहाँ जो आप पधारे, सेवा हमसे बनी नाहिं नैननके तारे!
हृदय विशाल महान वचन शीतल जिमि चंदन, प्रेम-भावसे करें भ्रात हम तव अभिनन्दन।
समदर्शी विद्वान अति जयभगवान उदार हैं। अर्पित श्रद्धाभावसे हार्दिक ये उद्गार हैं॥४

भाद्रपद शुक्ला १५ } कृपाकांक्षी—सदस्य शास्त्रसभा
वीर निर्वाण सं० २४६७ } श्री दिगम्बर जैन नयामन्दिर, धर्मपुरा, देहली।

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओं के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्ता से मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाज सेवाओं में अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ
* १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
- १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी, जैन डालमियानगर।
* १००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता।
- १००) ला० तनसुखरायजी जैन न्यू देहली।
* १००) सेठ जोखाराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
- १००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
- १००) बा० जयभगवानजीवकील आदि जैन पंचान पानीपत।
* ५१) रा० ब० उलफतरायजी जैन इन्जिनियर, मेरठ
* ५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
- २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर बम्बई।
* २५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा० रघुवरदयालजी, एम. ए. करोलबाग, देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु० न०)
- २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर।
* २५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला० [illegible]
* २५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीम को सफल बनाने में अपना सहयोग प्रदान करके यश के भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमों के सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्ती हो चुकी है।

तृतीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता

द्वितीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता अनेकान्त की पूर्व किरणों में प्रकाशित हो चुकी है। तृतीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता इस प्रकार है जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

- ११) बा० राजकृष्ण जी जैन, दरियागंज, देहली
- ५) कुँवर लक्ष्मीनारायणजी जैन छावड़ा, कलकत्ता
- ५) ला० जम्बूप्रसादजी जैन रईस व बैंकर, मेरठ।
- ४) बा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम. ए. वकील, मेरठ
- ४) ला० फूलचन्द नेमचन्दजी झावुक जैन, फलोंधी
- २) ला० मामराजजी जैन, बूढाखेड़ी।
- २) बा० गोपीलालजी जैन, लश्कर ग्वालियर।
- २) स्व० ला० भिक्खीमलजी जैन मुनीम, मेरठ।
- १) बा० छुट्टनलालजी जैन मुख्तार, मेरठ।
- १) बा० कैलाशचन्दजी जैन बी.एस,सी., मेरठ।
- १) बा० शीतलप्रसादजी जैन रिठानेवाले, मेरठ।

अनेकान्त की सहायता के चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रक़म देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओं को अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओर[illegible] उपहार ग्रंथोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे २ लेख लिखकर भेजना लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना, कराना। 'व्यवस्थापक अनेकान्त'

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तवप्रेसमें मुद्रित।